जिन्दगी मुसकरायी

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक 25

पहला संस्करण : 1954
दूसरा संस्करण : 1956
तीसरा संस्करण : 1964
चौथा संस्करण : 1969
पाँचवाँ संस्करण : 1976
छठा संस्करण : 1980
सातवाँ संस्करण : 1986

ज़िन्दगी मुस्कराई
(निबन्ध)

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

मूल्य : 25.00

प्रकाशक :
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इंस्टीट्यूशनल एरिया,
लोधी रोड, नयी दिल्ली-110003

मुद्रक :
जैयद प्रेस,
बल्लीमारान, दिल्ली-6

आवरण-शिल्पी : हरिपाल त्यागी

ZINDAGI MUSKARAI : (Essays) by Kanhaiya lal Mishra 'Prabhakar'. Published by Bharatiya Jnanpith, 18, Institutional Area, Lodhi Road, New Dilhi-110003. Printed at Jayyed Press, Ballimaran, Delhi-6. Seventh Edition : 1986.

Price : Rs. 25.00

एकता के
उन
प्रथम प्रतिनिधियों
को

- मनुष्य जंगल में जन्मा, वहीं पनपा और रहता रहा। कुछ पेड़, कुछ झरने, कुछ कन्दराएँ, बस, यही इतनी-सी उसकी दुनिया!
- गुट बने, क़बीले आये, गधे-घोड़ों का उपयोग हुआ और मनुष्य की दुनिया कुछ चौड़ी हो गयी!
- यों ही वह नगर और प्रदेश को पार करता देशवासी हुआ—देश की सीमा तक फैल गया।
- भारत के भिक्षुओं, ह्वेनसांग-जैसे यात्रियों और कोलम्बस-जैसे वीर खोजियों की जय कि वे मनुष्य को विश्व का नागरिक बना गये!

● भारत के ज्योतिषाचार्यों का अभिनन्दन कि उन्होंने धरती पर जीते-जागते मनुष्यों को आकाश का परिचय ही नहीं दिया, उसके साथ उनका जीवन-सूत्र भी जोड़ दिया !

● क्या मनुष्य की यह यात्रा यहाँ पूर्ण हो गयी ?

● ना, यह यात्रा तब पूर्ण होगी, जब धरती के मनुष्य का आकाश के वासियों से, लोक का परलोक से सीधा, साक्षात् और साधारण—आना-जाना, मिलना-जुलना—सम्बन्ध जुड़ जायेगा !

● और तभी किसी दिन होगा यह भी सम्भव कि इस लोक की होगी कोई कन्या और उस लोक का कोई कुमार और वे दोनों परस्पर विवाह-सूत्र में बँध लोक-परलोक की एकता के प्रथम प्रतिनिधि होंगे । तब लोक के लिये परलोक, न भय का कारण रहेगा न प्रलोभन का !

● बस, मेरी यह कृति, हृदय के सम्पूर्ण प्यार और सुख के साथ उसी प्रथम अन्तर्लोक-दम्पति को सादर समर्पित !

१ अगस्त १९५३ —क. ला. 'प्रभाकर'

पाँचवें जन्म पर

☐ 'जिन्दगी मुसकरायी' के पाँचवें (और अब छठे) जन्म पर मैं अपने पाठकों को अपने अभिवादन भेंट करता हूँ; क्योंकि उन्होंने इस लांछन को झूठ सिद्ध कर दिया है कि हिन्दी के पाठक खरीदकर पुस्तक नहीं पढ़ते।

☐ कहा जाता है कि हिन्दी में १००० पुस्तकों का छोटा संस्करण भी वर्षों में नहीं बिकता और दूसरा संस्करण होना, दूसरा जन्म पाना ही समझा जाता है, पर 'जिन्दगी मुसकरायी' के चार मोटे संस्करण हो गये और विद्वानों ने भी उसपर भरपूर और निरन्तर अपने प्यार के फूल बरसाये—जगदीश जी के शब्दों में 'जिन्दगी मुसकरायी' सचमुच खूब मुसकरायी।

☐ प्रचार और प्यार पाने के साथ ही १९५३ में लिखा 'जिन्दगी मुसकरायी' का समर्पण १९६२-६३ में एक चमत्कार ही सिद्ध हुआ और जब प्रथम अन्तरिक्ष-यात्री यूरी गागारिन को भारत यात्रा के समय वह सुनाया गया, तो उसकी विस्मयविमुग्ध खुशी उसके होठों से आँखों तक फैल गयी। स्मरणीय है कि इसी समर्पण को १९५३ में कुछ लोगों ने खयाली पुलाव कहा था।

☐ इस संस्करण में कुछ लेख निकाल लिये हैं, जिससे इन पृष्ठों में अब शुद्ध जीवन-चिन्तन रह गया है। उन लेखों में राष्ट्र-चिन्तन की दिशा थी।

☐ 'जिन्दगी मुसकरायी' असल में कोई पुस्तक नहीं, जीवन की 'रिफाइनरी' (संशोधनशाला) है, जिसमें जीवन शुद्ध हो, उद्बुद्ध होता है। इसी की शाखाएँ हैं – बाजे पायलिया के घुँघरू, माटी हो गयी सोना, क्षण बोले कण मुसकाये, महके आँगन चहके द्वार, दीप जले शंख बजे, जिन्दगी लहलहायी और जियें तो ऐसे जियें।

☐ हम सब इस विचारयज्ञ में भागीदार हों, अपने महान् राष्ट्र की श्रेष्ठ मानवता के स्वस्थ अंग बनें, यही मेरे जीवनयज्ञ की कृतार्थता है।

—लेखक

अनुक्रम

□

पृष्ठभूमि

भाई ब्रह्मदत्त शर्मा 'शिशु' जन्मजात कवि थे। वे कवि थे, गायक थे, लिखते और गाकर सुनाते। समा बँध जाता और हम लोग एक स्वर्गीय विभूति की तरह उन्हें टुकर-टुकर देखा करते, देखते रह जाते।

जी में आता, एक गहरी मसमसाहट नसों में उठती कि काश, मैं भी लिख पाता ऐसा ही कुछ, पर कुछ लिख न पाता।

एक दिन एक सुन्दर-सी कॉपी खरीदी और उसमें शिशु जी की कुछ कविताएँ लिख लीं। लिख नहीं सकता, तो पढ़ तो सकता था। जाने कितनी बार मैं उन्हें पढ़ता-पढ़ता झूम उठता, भूल जाता कि ये मेरी नहीं हैं और यह झूम ढीली पड़ती, तो तड़फ उठता कि हाय ये मेरी नहीं हैं। एक अजीब नशा था, जो चढ़ाव में हाथों उठाता, तो उतार में हाथों पटकता भी।

सन् १९२४, सर्दियों की रात, देवीकुण्ड का एक जंगल, दो बजे का समय और मैं संस्कृत की मध्यमा परीक्षा का विद्यार्थी। सब सोये पड़े और मैं जाग रहा। उठकर बाहर आया, तो एक अजब सन्नाटा। लौटकर फिर कोठरी में आया, तो पढ़ने में जी न लगा। गले में गुनगुनाहट, दिमाग़ में जाने क्या और यह मैंने लिखीं आठ-दस पंक्तियाँ। लय कुछ ग़ज़ल की-सी, भाव कुछ प्रार्थना के-से। आज सोचता हूँ, तो मामूली-सी तुकबन्दी, पर उस दिन तो उसे लिखकर, मैं कालिदास, मैं रवीन्द्रनाथ और मैं स्वर्ग का इन्द्र! जाने कितनी बार मैंने उन पंक्तियों को गाया, दोहराया, गुनगुनाया, देखा, पढ़ा, चूमा और उछाला किया। ओह, मैं अब कवि हूँ, कवि, मुझे क्या जरूरत कि भाई साहब की कविताएँ कॉपी में नक़ल

करूँ ? अब अपनी ही कविताएँ कॉपी में लिखूँगा।

एक कागज पर मैंने बहुत-बहुत साफ़ उसकी नक़ल की और एक पत्र के साथ लिफ़ाफ़े में रख, वह किसी के हाथों शिशु जी के पास भेज दी। दिल धड़कता रहा, पर उसी दिन उनका पत्र मुझे मिल गया।

बहुत खुश हुए थे भाई साहब, बहुत तारीफ़ की थी उन्होंने, मेरे भविष्य के मनसूबों से उनका मन भर उठा था और अन्त में उन्होंने जो कुछ लिखा था, उसका यह सार मुझे याद है : "साहित्यिक की सफलता का रहस्य इस बात में नहीं है कि वह कितने अच्छे भाव संग्रह करता है, कितनी अच्छी तरह उन्हें लिखता है। भाव तो भगवान् के हैं, आकाश में भरे हुए हैं। साहित्यिक की सफलता का रहस्य यह है कि वह अपने को कितना निर्मल, कितना सरस, कितना सरल बना पाता है, जिससे वह उन भावों को ग्रहण करने का पात्र बन सके। गाना तो रेकॉर्डों में भरा ही है, जिसका ग्रामोफ़ोन जितना अच्छा होगा, उसका गाना उतना ही मधुर सुनाई देगा। तुम अपना ग्रामोफ़ोन यानी मानस अच्छा रखो, गाना तो फिर खुद ही अच्छा होगा।"

चिट्ठी पढ़कर उस दिन तो बस मैं मस्ता गया — पर आज सोचता हूँ, वह एक बालक को दी गयी थपथपी थी। अब मेरा हाल यह कि विद्यार्थी पढ़ा करते अपना पाठ, मैं सोचा करता कविता की पंक्तियाँ, वे लिखते अपनी परीक्षा के कल्पित प्रश्नपत्र, मैं लिखता नयी कविताएँ — रात-दिन मुझे कविता की धुन थी। मैंने सैकड़ों शब्दों में से चुनकर अपना उपनाम भी रख लिया था — प्रभाकर; क्योंकि मैं अपनी दृष्टि में उन दिनों सूर्य के समान तेजस्वी था। इस तरह कविताओं से मेरी कॉपी भरती गयी, पढ़ाई का चसका कम होता गया और मैं निश्चयात्मक शान के साथ जीवन में पहली बार फ़ेल हो गया,—पर सच कहूँ, मेरी दृष्टि में उन कविताओं का तब इतना महत्त्व था कि अपना फ़ेल होना, मुझे ज़रा भी न अखरा और अपनी बैलेन्सशीट को मैं लाभ की ही मानता रहा।

एक दिन मैंने उन कविताओं को एक जगह करने के लिए स्वयं एक कॉपी बनायी और रंगीन काग़ज़ों के कई फूल काटकर उसपर चिपकाये। शिशु जी अपनी कॉपियों में भूमिका भी लिखा करते थे। मैंने भी भूमिका लिखनी शुरू की, तो क़लम ऐसी चली कि पूरे आठ पेज लिख गया। इन पृष्ठों में मेरी कविताओं की पृष्ठभूमि और जाने क्या-क्या बताया था। यह भूमिका पढ़कर मैंने स्वयं अनुभव किया कि मेरा गद्य मेरे पद्य से तगड़ा है और इस तरह अब मैं पद्य के साथ-साथ गद्य भी लिखने लगा। इन्हीं दिनों मैंने श्री चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' का 'नन्दननिकुंज' पढ़ा, तो मैं उसकी भाषा-तरंगों में बह-बह गया और मेरी भाषा पर उसका प्रभाव भी पड़ा — वह मँज चली और मुझे तो अपने लेख बहुत ही अच्छे लगने लगे।

इस सफलता के साथ मुझपर एक मुसीबत भी आ बरसी। मैं अब अपनी दृष्टि मे एक महान् लेखक बनता जा रहा था, पर कोई सम्पादक मुझे अपने पुट्ठे हाथ न रखने देता था। मैं बहुत साफ़ लिखकर अपनी रचना उन्हें भेजता। उत्तर के लिए टिकट रखता। साथ के पत्र में सम्पादक जी को प्रसन्न करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रयोग करता।

उदाहरण के लिए, मैं पत्र को वी. पी. भेजने को लिखता और उनके बहुत-से ग्राहक बनाने का आश्वासन भी उन्हें देता। उनकी सम्पादन-नीति को प्रामाणिक बताता, सम्पादन को असाधारण, दूसरे पत्रों से उनके पत्र की तुलना करके उनको श्रेष्ठ सिद्ध करता, उनके खास लेखों और पुरानी सम्पादकीय टिप्पणियों का प्रशंसा करता, अपने मित्रों से मैंने उनकी कब क्या तारीफ़ की या अपने किस भाषण में मैंने उनका ज़िक्र (कोरी गप्प!) किया और उसका श्रोताओं पर क्या प्रभाव पड़ा, यह सब लिखता। बिना जान-पहचान के ही शुरू-शुरू कई सम्पादकों को अपना मित्र बताता, वहाँ जो मेरी रचनाएँ छपनेवाली हैं, उनका नामोल्लेख करता, मैं आजकल अपने नगर में साहित्यिक जागरण के लिए जो रात-

दिन जी-तोड़ मिहनत कर रहा हूँ, उसकी झूठी तसवीरें खींचता, सम्पादक का रोब ग़ालिब होता, तो उसकी खुशामद करता, उसे ही अपना निर्माता बताता कि कैसे उनके किस लेख-टिप्पणी से मेरा मानस-कपाट खुल गया है और तब संशोधन करके अपने लेख छापने की प्रार्थना करता, उनके पत्र के जो ग्राहक मैंने बनाये हैं, उनके नम्बर-पते लिखता, एजेन्सी के नियम पूछता, नये लेखकों के सम्बन्ध में उनका कर्तव्य उन्हें बताता, अपने नगर में होनेवाले किसी भावी महोत्सव में उन्हें सभापति बनाने की बात कहता, उनके नये वर्ष पर उन्हें बधाई देता और संक्षेप में उनकी हर अनुमानित कमज़ोरी पर सेक लगाता और अपनी हर कल्पित विशेषता की घोषणाएँ छौंकता – यह भी लिखता कि मैं शीघ्र ही स्वयं एक पत्र निकालने का आयोजन कर रहा हूँ, जिसका पहला लेख आपसे ही लिखाऊँगा।

ग़रज़ और लिप्सा में फँसकर आदमी कितना धूर्त हो जाता है, पर यह धूर्तता बेकार थी, क्योंकि इस सबका जो फल मुझे मिलता था, वह था : 'रिटर्न विद थैंक्स' अर्थात् धन्यवाद के साथ मेरी रचना वापस आ जाती थी।

मैं उसे देखता, काँप उठता, दुखी होता, कभी-कभी रो भी पड़ता, मेरा दिल टूट जाता, मुझे गुस्सा आता, मैं आप ही आप गालियाँ देता, कोसता, कार्यालय में पहुँचकर सम्पादक के मुँह पर उसकी दावात उलटने के मनसूबे बाँधता, अपनी रचना फाड़ डालता, भोजन न करता, गुम-सुम पड़ा रहता और अन्त में फिर अपने को समेटता, सँभालता और किसी दूसरे सम्पादक पर निशाना बाँधता।

मेरा पहला निशाना जहाँ फ़िट बैठा, वे थे परम श्रद्धेय श्री गणेशशंकर विद्यार्थी।

'प्रताप' में आयुर्वेद की उत्पत्ति पर एक आचार्य का लेख छपा। उस-पर किसी दूसरे विद्वान् ने एक पूरक नोट लिखा। मैं आज सोचता हूँ कि

मुझे न आयुर्वेद के सींग का पता, न पूँछ का, पर उन दिनों तो मैं सर्वज्ञ था। मैंने उसपर एक तीसरा लेख लिखा और 'प्रताप' में छपने को भेज दिया। क्या कहूँ, मेरी ज़िन्दगी का वह सबसे बेचैन सप्ताह था, क्योंकि मैंने गणेशशंकर जी की इतनी प्रशंसा और खुशामद की थी कि क़लम ही तोड़ दी थी। जाने कितनी बार मैंने उस दिन के बारे में सोचा, दूसरों से पूछा और तब कहीं मुश्किल तमाम सोमवार आया। डाकखाने गया, 'प्रताप' आया, बाँसों उछलते दिल उसे खोला, खोजा, पर उसमें कहीं मेरा लेख न था। जीवन की वह सबसे बड़ी असफलता थी—ऐसा धक्का मुझे फिर बाद में कभी नहीं लगा। धरती घूम गयी; आकाश टूट गिरा और घर आया, तो हिचकियों रोया।

रोकर सो गया, सोकर उठा, तो वही उधेड़-बुन। दोनों लेख पढ़कर अपना लेख पढ़ा और क्या बताऊँ, मुझे तो अपना ही लेख सर्वोत्तम जँचा। मैंने उसकी फिर नक़ल की और गणेशशंकर जी को एक पत्र लिखा। इस पत्र में उनकी महत्ता के गुब्बारे थे, तो उनके सहकारी सम्पादकों की अज्ञानता के नारे भी थे। कहा था : वे लोग रचनाओं का महत्त्व नहीं समझते, सिर्फ़ प्रसिद्ध लेखकों का नाम देखकर ही लेख-वेख छाप देते हैं। सावधान किया गया था कि इससे आपके यश में धक्का लगता है और 'प्रताप' को बहुत नुक़सान होता है। अपने लेख को पूर्ण, उपयोगी और सर्वोत्तम कहा गया था। यह पत्र रजिस्ट्री से उनके नाम भेजा गया था : आशा है यह पत्र आपको निजी समय में मिलेगा और मुझे अपने सहकारियों के अत्याचार से बचा सकेंगे। उस समय यद्यपि बेचारे कन्हैयालाल जी मध्यमा के चतुर्थ खण्ड की परीक्षा में फ़ेल हुए विद्वान् थे, पर अपने प्रहार को पूरी शक्ति देने के लिए लेख के नीचे लिखा गया था : लेखक कन्हैयालाल मिश्र शास्त्री।

लिफ़ाफ़ा भेजा, तो साँस आया—'अब देखूँगा कि ये टुटपूँजिए सहकारी कैसे मेरा लेख रोकते हैं!'

पाँचवें दिन एक कार्ड आया। छोटे-छोटे अक्षरों में स्वयं गणेश-

शंकर जी ने लिखा था : तुम्हारी बातों से सहमत नहीं हूँ, पर तुम्हारे उत्साह की क़द्र करता हूँ। लेख ठीक करके दे दिया है, इसी अंक में जा रहा है। मैं भविष्यवाणी करता हूँ कि तुम शीघ्र ही एक प्रसिद्ध लेखक हो जाओगे।

रोम-रोम में खुशी फूट निकली और सोमवार तो अगला युग ही हो गया। डाकखाने गया, 'प्रताप' आया, वहीं खोला, अपना छपा नाम देखा और 'प्रताप' का वह अंक अगले सप्ताह तक अधिक से अधिक जितने आदमियों को दिखा सकता था, दिखाता फिरा।

मुझे आज तक खूब याद है — अट्ठाईस रुपये के टिकट खराब करने के बाद मेरी पहली पंक्तियाँ छपी थीं, पर मुझे अब कोई दुःख न था — मेरी रक़म सूदसहित वसूल हो चुकी थी।

'प्रताप' में नाम छपने से छपास का जो बुखार कुछ उतर गया था, वह पूरे ज़ोर से फिर चढ़ आया। अब सम्पादकों पर रोब जमाने की एक नयी तरकीब मेरे हाथ आ गयी थी — 'प्रताप' में आपने मेरा लेख पढ़ा होगा और इससे भी बढ़कर कभी-कभी तो यहाँ तक — 'प्रताप' में तो आप मेरे लेख पढ़ते ही होंगे।

अनुभव ने बताया कि 'प्रताप' में लेख छपने का दूसरे सम्पादकों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और इससे वे मुझे लेखक मानने को तैयार न हुए। मैं इससे बहुत परेशान था कि मेरी कविताएँ और लेख जब इतने उत्तम हैं, तो फिर ये सम्पादक मेरा व्यापक बाईकाट क्यों किये जा रहे हैं?

उन्हीं दिनों मेरे साहित्यिक जीवन की एक महान् घटना हुई कि 'माधुरी' में उर्दू के महाकवि अकबर पर एक लेख छपा और उसी में उनका यह शेर भी :

> "लगी चहकने जहाँ भी बुलबुल, हुआ वहीं पर जमाल पैदा,
> कमी नहीं क़द्रदाँ की 'अकबर' करे तो कोई कमाल पैदा!"

इन पंक्तियों ने मुझे बिजली के सैकड़ों धक्कों से झनझना दिया और उस दिन मैंने अपनी जाने कितनी कविताएँ और लेख फाड़ डाले। जोश मुझमें इतना कि हरेक को फाड़ते समय मैंने कहा : "तुम कुछ नहीं हो, तुम घास हो, तुममें कमाल नहीं है, मुझे तुम्हारी जरूरत नहीं, मैं सिर्फ कमाल की ही चीजें चाहता हूँ।"

इन रचनाओं को फाड़कर मैंने नये लेखक के जीवन का जो महामन्त्र सीखा वह यह है : "रचनाओं को छपाकर नहीं, फाड़कर ही नया लेखक आगे बढ़ता है।"

अब मुझे कमाल करना था; पर कमाल बेचारे का कोई अता-पता मुझे मालूम न था। यह भी मेरा एक लड़कपन था, पर इसमें जोश के साथ होश भी थी कि अब मुझे छपाने के लिए नहीं, लिखने के लिए लिखना था।

एक दिन खेतों पर गया, तो अजब हरियाली थी। उससे प्रेरणा मिली और हृदयेश जी की शैली में मैंने एक गद्य-काव्य लिखा, कई पेज का। आज सोचता हूँ उसमें गद्य-काव्य और स्केच का समन्वय था।

इसे लिखकर रख दिया और तीन-चार दिन बाद फिर पढ़ा और इस तरह कि मैं एक सम्पादक हूँ और मेरा महत्त्व इस बात में है कि इसके लेखक को मैं उसकी त्रुटियाँ बता सकूँ।

यों एक पत्र के कल्पित सम्पादकत्व से मेरी सम्पादन कला का आरम्भ हुआ। आज सोचता हूँ, तो हँस पड़ता हूँ कि मैं उस दिन सम्पादक के पोज में ही न था, यथार्थ में सम्पादक था। मुझे अनुभव हो रहा था कि मैं हूँ सम्पादक श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' और मेरे सामने ही बैठा है — यह एक नया लेखक कन्हैयालाल प्रभाकर; हूँ; जिसे अभी कुछ भी नहीं आता!

मैं वह गद्य-काव्य पढ़ता जाता और उसकी कमियाँ मुझे सूझती जातीं। मैं अत्यन्त गौरव के भाव से उन्हें बताता जाता, नये सुझाव भी देता और कभी-कभी बेचारे लेखक पर बरस भी पड़ता : "यह लेखन है

जनाब, कोई धासखुदी नहीं । यों जल्दी करेंगे और भरत भरेंगे, तो तीन कौड़ी के रह जायेंगे आप !"

आश्चर्य है कि मेरे सुझाव उपयोगी थे और उसके अनुसार मैंने उसे दोबारा लिखा, तो उसमें एक नयी चमक आ गयी । दो-तीन दिन बाद मैं फिर उस खेत पर गया और वहाँ बैठकर मैंने उस लेख को इस तरह पढ़ा कि जैसे किसी दूसरे को सुना रहा हूँ, तो दो नये फल निकले । पहला यह कि खेत के वातावरण और लेख के वर्णन में जो अन्तर था, वह मेरे सामने आ गया और दूसरा यह कि कई जगह मुझे खटका कि यहाँ अभी कमी है । मैंने उसे तीसरी बार लिखा, तो ये सुधार तो हुए ही, उसका अन्त भी एक नये रूप में बदल गया और इस तरह वह लेख पूरी तरह खिल उठा ।

अब मैंने उसे फिर अपने कल्पित सम्पादक को दिखाया, तो उन्हें पसन्द आ गया और वे उसमें कोई नया संशोधन न कर सके । लेख पास हो गया और मैंने उसे उठाकर रख दिया । छपने को तो अब कहीं भेजना ही न था ।

इसके बाद मैंने दो कहानियाँ लिखीं और तीन कविताएँ, पर वे मुझे न जँचीं, न मेरे सम्पादक को, तो मैंने फाड़ फेंका । मुझे इससे जरा भी दुख न हुआ ।

कोई दो सप्ताह बाद मैंने अपना तीन बार लिखा वह लेख एक मित्र को सुनाया, तो वे प्रसन्न हुए, पर मुझे कई जगह भाषा में खुरदरापन खूब अखरा, जिसे चौथी नक़ल में मैंने नयी चिकनाई से ढँक दिया ।

इस तरह — कमाल तक पहुँचने के लिए मैंने जो सीढ़ियाँ पार कीं, वे ये थीं : छपाने के लिए कभी मत लिखो, सिर्फ़ लिखने के लिए लिखो ।

लिखकर स्वयं एक सम्पादक की दृष्टि से पढ़ो और जो कमियाँ दिखाई दें, उन्हें फिर सुधारो ।

दूसरी नक़ल के बाद उसे उठाकर रख दो और भूल जाओ । कुछ दिन बाद फिर पढ़ो और जो नयी बातें सूझें — अवश्य सूझेंगी — उन्हें

उसमें बढ़ा दो।

अब उसे फिर रख दो और कुछ दिन बाद उसे अपने मित्रों को सुनाओ। वे यदि कुछ सुझाव दें और ये अपने को जँचे या सुनाते समय स्वयं कुछ नयी बातें सूझें – अवश्य सूझेंगी – उन्हें फिर से लेख में बढ़ा दो।

यदि लिखकर पढ़ते समय ही यह सूझे कि यह कुछ नहीं है, तो उसे तुरन्त फाड़कर फेंक दो।

अब मैं अपने ही विद्यालय में द्वितीयाध्यापक था और इसी में मेरे विद्यार्थी जीवन के साथी श्री भगवत्प्रसाद शुक्ल 'सनातन' (अब स्वर्गीय) पढ़ रहे थे। मेरे ही सम्पर्क में वे कविता लिखने लगे थे – वही तुकबन्दियाँ!

एक दिन उन्होंने मुझे इटावा से प्रकाशित 'ब्राह्मण-सर्वस्व' का एक अंक दिखाया। इसमें उनकी एक संस्कृत कविता छपी थी : देव-प्रार्थना। यह उनका पहला प्रकाशन था, इसलिए वे भी आज नशे में थे और यह आठ-दस दिन बाद तो बोतलों पहुँच गया, जब उस कविता पर पिण्डौरी के महन्त ने पाँच रुपये मनिआॅर्डर से पुरस्कार के रूप में भेजे! उनका दिल बढ़ा और एक नयी कविता उनकी उसी पत्र में और छपी।

मेरा एक लेख उन्होंने बिना मुझे बताये, निकालकर 'ब्राह्मण-सर्वस्व' को भेज दिया और वह उसी मास छप गया। अंक के साथ ही उसके सम्पादक श्री ब्रह्मदेव शास्त्री (अब स्वर्गीय) का पत्र भी आया कि आप हर महीने एक लेख लिखें। मेरी लेखन-शैली की प्रशंसा भी थी। सम्पादकों से प्रार्थना करने का तो मुझे अनुभव था, पर मेरे जीवन में यह नयी बात थी कि कोई सम्पादक मुझसे प्रार्थना करे। उस पत्र ने मुझे फिर नशे में भर दिया और कई दिन मैं उछला फिरा। अपने एकान्त में कई बार मैंने कहा : ओहो, अब तो होने लगा है कमाल, और हर महीने में एक लेख मेरा 'ब्राह्मण-सर्वस्व' में छपने लगा।

इन्हीं दिनों एक और घटना हुई कि मेरे नगर के स्कूल में श्री गंगा-प्रसाद 'प्रेम' प्रधानाध्यापक होकर आये। बढ़े हुए बाल, खादी का कुरता, चिनी हुई खादी की धोती, हाथ में छड़ी, माथे पर चन्दन की बिन्दी और अत्यन्त मधुर बोल; वे मेरे नगर में एक नयी चमक-सी साथ लिये आये।

मैं उनसे मिला, सम्पर्क में आया और उनका बन्धुत्व पा गया! वे हिन्दी के श्रेष्ठ कवि; झूम-झूमकर अपनी कविताएँ सुनाते और मैं आकाश में उड़ा-उड़ा उन्हें सुनता। मेरी कविताएँ मेरी दृष्टि में अब घास थीं और मैं कविता के एक नये मोड़ पर खड़ा था। प्रभाव को ग्रहण करने की मुझमें शक्ति थी, कमाल की मुझे प्यास थी, प्रयत्नों की मुझे आदत थी। मैं पहले से बहुत सुन्दर कविताएँ लिखने लगा। मैं लिखता, वे उसमें काट-छाँट करते, वे निखर आतीं। मैं झूमकर उन्हें कवि-सम्मेलन में पढ़ता और अपने कानों अपनी प्रशंसा सुनता।

अब मैं नये लेखक के लिए ये तीन नयी सीढ़ियाँ और पा चुका था :

आरम्भ में कभी बड़े पत्रों के दरवाजे न झाँको और जब रचनाओं में कुछ जान आने लगे तो छोटे-छोटे पत्रों में ही उन्हें भेजो।

दूसरे लेखकों के लेखों को एक-दो-तीन बार पढ़कर, फिर उन्हें बिना देखे, अपने ढंग पर उन्हें लिखो और तब असल से मिलाकर देखो कि क्या कमी रह गयी है और बस उन्हें फाड़ फेंको।

किसी श्रेष्ठ कवि से सम्पर्क बनाओ, उन्हें अपनी रचनाएँ दिखाओ, अपनी नम्रता, अहंकार-हीनता और सेवा से उन्हें उनसे ठीक कराओ।

'ब्राह्मण-सर्वस्व' में मेरे लेख क्या छपने लगे, मैं उससे लिपट ही गया। दूसरे वर्ष मैंने उसमें एक नया स्तम्भ खोल दिया : स्वर्ण-संकलन। इसमें मैं दूसरे पत्रों में प्रकाशित श्रेष्ठ लेखों का या उनके सारांश का संकलन करता और इस तरह पत्र को अच्छी सामग्री मिल जाती। कभी-कभी छोटे नोट भी मैं लिख भेजता और वे मेरे कहने पर बिना नाम दिये सम्पादकीय स्तम्भ में छप जाते।

'ब्राह्मण-सर्वस्व' को प्रकाशित हुए पचीस वर्ष हो रहे थे। मैंने शास्त्री जी को लिखा कि वे इस अवसर पर रजत-जयन्ती-अंक प्रकाशित करें। इस अंक की लेख-सूची, किस लेखक से कौन लेख लिया जाये और लेखकों को क्या पत्र लिखा जाये, यह सब मैंने लिख भेजा। किस सज्जन से, किस तरह, कितनी आर्थिक सहायता मिल सकती है, यह भी लिखा।

उनका उत्तर आया कि उन्हीं दिनों मेरी पुत्री का विवाह है, इसलिए मैं छपाई का प्रबन्ध तो कर सकता हूँ, पर सम्पादन मेरे वश का नहीं। मैंने उन्हें लिखा कि आप कार्य आरम्भ करें, मैं पूरा सहयोग दूँगा। ऐसा अवसर फिर न आयेगा, इसलिए यह विशेषांक अवश्य निकालिए।

उनका कोई उत्तर न आया, तो मैंने मान लिया कि वे तैयार नहीं, पर एक दिन डाक से मुझे सौ-सवा सौ छपे पत्रों का एक पैकेट मिला। यह रजत-जयन्ती-अंक के लिए लेखकों से लेख माँगने का वही पत्र था, जो मैंने शास्त्री जी को तैयार करके भेजा था। इसपर विषय-सूची भी मेरे ही वाली थी, पर आश्चर्य यह कि नीचे रजत-जयन्ती-अंक के सम्पादक की जगह मेरा नाम छपा था। मैं देखकर धक रह गया। यह काम मेरी योग्यता और शक्ति का कहाँ था? मैं क्या जानूँ सम्पादन? अभी तो मैं लेखक भी न बन पाया था, पर मित्रों ने हिम्मत बँधायी और इसमें मैं लिपट गया।

एक-एक लेखक को मैंने लिखा और इतने तक़ाज़े किये कि लेख दिये बिना पीछा ही न छोड़ा। सच यह है कि मुझपर अब सम्पादन का भूत सवार था और लेखकों पर सम्पादक का भूत। कोई दो महीने के घनघोर परिश्रम से मैंने जो सामग्री संग्रह की, उसका बोझ छह सेर से ऊपर था।

अब यह अस्त-व्यस्त सामग्री मेरे पास थी। पूरे एक महीने मैं उसपर फिर जुटा और उसकी एक-एक पंक्ति पर मैंने ध्यान दिया। मुझे आश्चर्य हुआ कि बड़े-बड़े लेखकों की भाषा में शिथिलता थी। मैंने बेधड़क होकर काट-छाँट की और तब अनेक स्तम्भ बनाकर उनमें उस सामग्री को

बाँटा। हरेक स्तम्भ की विषय-सूची अलग बनायी और हरेक लेख पर संक्षेप में लेखक का परिचय अपने ढंग पर दिया। ये परिचय मेरी उस समय की स्थिति को देखते हुए असाधारण थे — अनेक लेखकों ने बाद में उनकी प्रशंसा की थी, यह मुझे याद है।

यह विशेषांक असाधारण रूप से सफल रहा और इससे मैंने कमाल पैदा करने का जो नया सूत्र पाया, वह यह था : परिश्रम ही हर सफलता की कुंजी है और वही प्रतिभा का पिता है। सम्भव है प्रतिभा कोई बड़ी चीज हो और वह ईश्वर के यहाँ से ही आती हो, पर नये लेखक को उसकी प्रतीक्षा नहीं, अपने परिश्रम पर ही भरोसा करना चाहिए।

इस विशेषांक के सम्पादन से हिन्दी की दुनिया में मेरा परिचय तो बढ़ा ही, मेरा आत्मविश्वास भी दृढ़ हो गया। इसके कुछ दिन बाद मैंने 'गढ़देश' के एक विशेषांक का सम्पादन किया और अप्रैल १९३० में तो मैं ही 'गढ़देश' साप्ताहिक का सम्पादक बनाया गया। कोई चार महीने मैंने यह काम किया और फिर मैं १९३० के कांग्रेस आन्दोलन में जेल चला गया।

यहाँ तक आते-आते मैंने यह समझ लिया कि मेरा मन कविता में नहीं उतरता और कविता को नमस्कार कर मैंने उसका लिखना ही बन्द कर दिया। इससे मुझे यह लाभ हुआ कि मेरा सारा ध्यान एक तरफ़ सिमट आया और इस तरह कमाल पैदा करने का यह एक नया सूत्र मेरे हाथ लगा : कभी फ़ालतू चीज न लिखो, वही लिखो जिसमें पूरा मन लगे, पूरा रस मिले और पूरी डुबकी आये।

अब मैं अपने साहित्यिक जीवन के चौराहे पर था। १९३२ की जेल-यात्रा में मुझे बहुत ऊँचे मनुष्यों का सम्पर्क मिला और मैंने इस बीच काफ़ी पढ़ा भी। इस जेल-यात्रा में मेरे साहित्यिक जीवन में जो नयी बात हुई, वह थी यह कि सहारनपुर जेल के खेतों पर बैठकर मैंने अपने पिता के संस्मरण लिखे, कोई साठ-सत्तर पेजों में और फ़ैज़ाबाद पहुँचकर कुछ ऐसे लेख लिखे, जिन्हें बाद में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने स्कैच बताया।

एक तसवीर के दो पहलू और मोती इनमें मुख्य हैं। इस तरह मेरी क़लम को एक नयी सूझ मिली। मैं इसे यों कहता हूँ कि मेरा कवित्व मेरे गद्य में ही समा गया। जेल में लम्बी बीमारी के कारण मुझे जो एकान्त मिला, उसमें मैंने यह निश्चय किया कि मैं एक मिशनरी पत्र-कार के रूप में ही अपनी सर्वोत्तम शक्तियों का राष्ट्र के लिए उपयोग करूँगा; क्योंकि प्लूरिसी ने मुझे देहातों की दौड़-धूप के लिए अयोग्य ही कर दिया था और साहित्य-विहीन राष्ट्रसेवा तो मेरे लिए सदा से ही अभिशाप-सी थी।

वहीं जेल में एक दिन मैंने 'प्रताप'-सम्पादक पण्डित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' से कहा : "मैं जेल से छूटकर आपके 'प्रताप' में रहूँगा।" वे मेरे प्रति सदैव ममता से ओतप्रोत, पर एकदम से बोले : "ना, हरगिज़ नहीं !"

मुझे गहरा धक्का लगा और सँभलकर ही मैं पूछ पाया : "क्यों पण्डित जी ?" बोले : "वहाँ रहोगे, तो हम तुम्हें खा जायेंगे ?" मैं खोया-सा बिना किसी प्रश्न के एक प्रश्न-चिन्ह ही बन गया, तो बोले : "हाँ-हाँ, पुराना नियम है कि बड़ी मछली छोटी मछली को खाकर पनपती है। 'प्रताप' — में तुम आओ, बहुत खुशी, पर इससे हम पनपेंगे तुम रल जाओगे। तुम एक स्वतन्त्र पत्रकार के रूप में सामने आओ। मैंने खूब देख लिया, तुममें इतनी शक्ति है कि सफल हो जाओगे।"

मेरे भावी जीवन में पत्रकार-कला का जो रूप स्फुटित हुआ, उसकी नींव फ़ैज़ाबाद जेल में नवीन जी की इसी इंटरव्यू ने रखी थी, यह स्मरण कर मैं सदा मन ही मन उनका अभिनन्दन किया करता हूँ।

अपने स्केच और संस्मरणों की क़लम को माँजने में मैंने बहुत परिश्रम किया। पहले तो मैंने यह अध्ययन किया कि किस बड़े लेखक में क्या विशेषता है और फिर यह कि मैं अपनी क़लम में उन विशेषताओं का कौन-सा अंश ले सकता हूँ। मुझपर चार लेखकों का प्रभाव पड़ा। सबसे अधिक पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी का और उसके बाद पं. श्रीराम शर्मा,

श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति और श्री रामनाथ 'सुमन' का। श्री चतुर्वेदी जी का आरम्भ मुझे गजब का लगा। शर्मा जी की प्रवाह-शक्ति और चित्रण, सुमन जी के विश्लेषण-कौशल और इन्द्र जी की घटना-शृंखला के सामने मेरा सिर झुक गया।

इस अध्ययन की छाया में मैंने कोई सौ तरह से स्कैच और संस्मरण लिखे होंगे। लिखे, काटे, फिर लिखे और फाड़े। एक लेख को अधिक से अधिक चौदह बार तक मैंने हट-हटकर लिखा, यह मुझे याद है।

इस तरह मैं अच्छे संस्मरण लिखने लगा और कमाल पैदा करने का एक नया सूत्र मैंने रचा: अपनी कमियों पर हमेशा आँख गड़ाये रहो और दूसरों की उन विशेषताओं पर गहरा ध्यान दो कि जिनसे उन्हें यश और सफलता मिली। तब उन विशेषताओं को अपनी कमियों के स्थान में प्रयत्न करके इस तरह लो कि वे भद्दे पैबन्द होकर नहीं, दूध में चीनी बनकर तुममें समा जायें।

आदरणीय श्री विश्वम्भरप्रसाद शर्मा ने सहारनपुर से साप्ताहिक 'विकास' प्रकाशित किया, तो कुछ जिम्मेदारियाँ मुझे भी सौंपीं। हर सप्ताह मैं उसमें कुछ लिखता रहा, पर उसके 'आर्यसमाज अंक' के काम में हाथ बटाने को मैं १९३३ में सहारनपुर क्या आया, बस 'विकास' का ही हो गया।

१९३४ में 'विकास' को एक लिमिटेड संस्था का रूप दे दिया गया और यह निश्चय हुआ कि पाँच महीने के लिए 'विकास' का प्रकाशन स्थगित करके संस्था के हिस्से बेचने और अपने प्रेस लगाने में परिश्रम किया जाये।

इन पाँच महीनों में मैं घूमते-घूमते बराबर जिस बात को सोचता रहा वह यह थी कि 'विकास' अब कैसा निकले? उसमें क्या-क्या रहे? कैसे वह आदर्श साप्ताहिक का रूप ले? और कैसे वह लोकप्रिय हो?

मेरी परेशानी यह 'लोकप्रिय' था। यदि पत्र को अश्लील कहानियों,

सस्ते वाद-विवादों और इसी तरह दूसरी सामग्री से सजाया जाये, तो पत्र तुरन्त लोकप्रिय हो सकता है, पर इस स्थिति में मेरे लिए उस पत्र से अपना सम्बन्ध रखने का क्या अर्थ? मेरी तो रग-रग में गुलामी की पीड़ा थी, स्वतन्त्रता की आग थी, मैं नौकरी के लिए तो पत्रकार बन न रहा था।

तो वह रास्ता मुझे न चलना था। दूसरा मार्ग था यह कि हम 'विकास' को ऊँचे और आदर्श विचारों से भरें और उसमें अपनी आत्मा का सर्वश्रेष्ठ दान दें। यह रास्ता ठीक था, पर इसमें दिक़्क़त यह थी कि इस तरह के पत्र का कोई ग्राहक न था। यदि अपनी शक्ति के भरोसे हम उसे घाटे पर भी चलाने को तैयार हों, तो उससे हमारा यह लक्ष्य कहाँ पूर्ण होता था कि जनता में जागृति हो, नये विचार फैलें?

सारे-सारे दिन मैं इस प्रश्न को सोचता रहता और रात को तारों की ओर ताकते-ताकते भी! मुझे सपनों में भी यही उलझन रहती। मैं परेशान था और जब मुझे कुछ न सूझता, तो ऊबकर मैं सोचता: "छोड़ो जी, यह क़लम का काम; चलो देहात में कहीं आश्रम बनाकर बैठें और भावी क्रान्ति की तैयारी करें।"

पूनो की चाँदी-भरी रात में एक दिन मैं नहर पर जा लेटा और निश्चय कर लिया कि इस प्रश्न का निपटारा करके ही उठूँगा। मैं सोचता रहा। अचानक मेरा ध्यान नहर की धारा पर जा टिका। लहरें भी हैं, सरसता भी है, प्रवाह भी है, सन्तुलन भी है और गहराई भी। मुझे ऐसा लगा कि यह नहर मेरे भीतर बह रही है और मैं उसमें तैर भी रहा हूँ। तल्लीनता की इसी तैराई में अचानक चाँद-सा चमकता एक प्रश्न मेरे मन में उभरा: क्या लिखने की कोई ऐसी शैली नहीं हो सकती, जिसमें लहरें भी हों, सरसता भी हो, प्रवाह भी हो, सन्तुलन भी हो और गहराई भी?

प्रश्न क्या मन में उभरा मैं ही उभरकर बैठ गया। मुझे राह मिल गयी थी। मैंने सोचा: मैं ऐसी शैली पर लिखूँगा, जिसमें यह सब हो

और इस तरह हम जनता को वह देंगे जिसकी उस जरूरत है, पर इस ढंग पर कि वह उसे ले सके, पचा सके, बिना कोई बोझ-भार उठाये। संक्षेप में, ज्ञान उपनिषद् का-सा पर अभिव्यक्ति लोरियों की-सी।

मुझमें इतना उल्लास था कि लगा : मैं नहर में तैरता हुआ ही एक मील दूर अपने घर पहुँचा हूँ।

प्रयोग आरम्भ किये। वही लिखना, काटना, बार-बार पढ़ना और फाड़ना। कोई दस-पन्द्रह लेख फाड़ने के बाद मैंने एक लेख लिखा : झाड़ू लगाने की कला। इसका आरम्भ राष्ट्रपति वाशिंगटन के जीवन की एक घटना से हुआ था और इस तरह यह संस्मरण और लेख का समन्वय था।

यह कुछ दिन बाद 'विकास' में छपा, तो मुझपर आकाश से वरदान बरस पड़े। पूज्य बापू ने मुझे अपने हाथ से लिखा : "भाई प्रभाकर, तुम तो मुझसे भी बढ़ गये। मैं तो पाखानों पर ही लिखता था, तुमने झाड़ू पर लिखा। मुझे बहुत अच्छा लगा।" विश्व के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष के इस आशीर्वाद को पा, मैं और किस क़द्रदाँ की प्रतीक्षा करता। मुझे सब कुछ मिल गया था।

"कमी नहीं क़द्रदाँ की 'अकबर' करे तो कोई कमाल पैदा!"

तब से मैं इस ढंग पर नये-नये प्रयोग करता रहा और १९५० में आकर मुझे लगा कि मैं अब अपनी जगह आ गया हूँ। १९३५ से १९५० तक के इन पन्द्रह वर्षों में मैं अपने स्कैच और संस्मरणों में भी नये प्रयोग करता रहा और बराबर उन्हें नयी चमक देता रहा।

इस तरह अनजाने ही इन लेखों में स्कैच की चित्रता और संस्मरण की आत्मीयता भी आती गयी और अब हिन्दी के वन्दनीय विद्वान् कहते हैं : यह एक नयी शैली है। इस संकलन के लेख इसी शैली के हैं।

इन लेखों के साथ इस संग्रह में कुछ 'रेडियो टॉक' भी हैं। इनकी शैली बातचीत की है और मुझे आशा है कि पाठक इन्हें अपने साथ ही लेखक की बातचीत अनुभव करेंगे। यही इनकी विशेषता है। इन्हें

लिखाने का श्रेय आल इण्डिया रेडियो नयी दिल्ली के अधिकारियों और साथियों को है; विशेषत: श्री गोपालदास को और निश्चय ही मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

इन रचनाओं के सम्बन्ध में मैं क्या कहूँ, सिवाय इसके कि यह मेरा संचित रक्त है, जो आज पाठकों को भेंट कर रहा हूँ; अपने फक्कड़ जीवन में इसके सिवाय मैंने और कुछ भी तो संचय नहीं किया।

—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

विकास लिमिटेड
सहारनपुर : उत्तर प्रदेश
गान्धी जयन्ती १९५३

धोखेबाज़ को प्रणाम !

उस दिन जीवन में एक घटना हुई। घटना अपने में इतनी साधारण है कि उसपर कोई ध्यान न दिया जाये, तो उसकी यह उपेक्षा किसी अपराध के दर्जे में खींच-तानकर भी दर्ज नहीं की जा सकती।

सर्दियों में श्रीमती विद्यावती कौशल बीमार हुईं, तो सैप्टिक के भयंकर प्रकोप को रोकने के लिए उन्हें पैनिसिलीन के इन्जेक्शन दिये गये। पैनिसिलीन बर्फ़ में ही रह सकती है, इसलिए मैंने अपना बड़ा थर्मस उनके घर भेज दिया। वे अच्छी हो गयीं, पर थर्मस वहीं रहा।

गरमियाँ आयीं, तो बर्फ़ रखने के लिए मुझे ज़रूरत पड़ी। मँगाया, तो उत्तर मिला कि उसे तो तभी कुछ दिन बाद तुम्हारा आदमी ले गया था। सबसे पूछा, पर थर्मस लानेवाला मेरा कोई आदमी मुझे न मिला। मुझे यह सब अच्छा न लगा, बुरा ही लगा; क्योंकि मैं इसे अब अपने साथ एक भद्दी मज़ाक़ समझ रहा था।

मैं एक दिन स्वयं थर्मस लेने गया, तो उनका गम्भीर उत्तर मिला : "एक नौजवान मुसलमान यह कहकर थर्मस ले गया था कि तुमने मँगाया है।"

गयी बात और गयी चीज़ पर अफ़सोस करना मेरे स्वभाव के विरुद्ध है, इसलिए मन ही मन उस धोखेबाज नौजवान को कुछ गालियाँ दे, थर्मस मैंने बट्टे खाते किया और यह फ़ाइल खत्म कर दी। मुझे थर्मस की बेहद ज़रूरत थी, बाज़ार में नया थर्मस दूकानों पर देखने को भी न था—लड़ाई के दिनों की बात है—पर मैं करता ही क्या ?

कोई दो महीने बाद एक दिन उत्साह के स्वर में विद्या जी ने कहा :

"तुम्हारा थर्मस मिल गया। वह मुसलमान लड़का आया था; शाम को लायेगा थर्मस !"

फिर धोखे से "मेरा थर्मस वह शैतान ले ही क्यों गया था ?" आश्चर्य से मैंने पूछा, तो करुणा के इस बोझ से दबी-सी वे बोलीं : "उसकी पत्नी को भी मेरी तरह भयंकर सैप्टिक हो गया था और उसे भी पैनिसिलीन के लिए ही थर्मस की जरूरत थी। वह शहर के कई बड़े आदमियों के पास गया, पर उस ग़रीब को किसी ने भी दो दिन के लिए अपना थर्मस नहीं दिया। अन्त में वह डॉक्टर के पास जाकर रोया— उसकी पत्नी की हालत पल-पल खराब हो रही थी। डॉक्टर ने उसे बताया कि तुम्हारा थर्मस हमारे घर आया था। वह दौड़ा-दौड़ा तुम्हारे पास गया, पर तुम घर पर न थे। अब उसके सामने भयंकर घड़ी थी। बस, उसने आखिरी दावँ लगाया कि वह हमारे घर आया और झूठ बोल-कर थर्मस ले गया। उसकी पत्नी बच गयी, पर तभी वह उसे लेकर बाहर चला गया। पत्नी अब बिलकुल अच्छी है और वह उसे लेकर घर लौट आया है।"

साथ ही यह भी—"वह झूठ बोलने के लिए माफ़ी माँग रहा था और बहुत-बहुत हाथ जोड़ रहा था। कहता : बीबीजी, आपके थर्मस ने मेरा घर उजड़ने से बचा लिया।"

शाम को सचमुच वह मेरा थर्मस उन्हें दे गया !

अब मेरा थर्मस मेरे पास और मैं स्वयं दो प्रश्नों के बीच। ये दोनों प्रश्न जानता हूँ मेरे हैं, पर लग रहा है कि मुझसे ये अपना समाधान भी माँग रहे हैं। पहला प्रश्न यह है : जिन मनुष्यों ने संकट की उन हृदयवेधक घड़ियों में भी, घर में थर्मस रहते उसे मना कर दिया या टाल दिया, उनमें और भेड़ियों में क्या अन्तर है ? और जैसे मैं स्वयं अपने से आप ही कह रहा हूँ : यह हमारी सामाजिक विषमता का, धन के व्यक्तिगत प्रभुत्व का, अभिशाप है कि अपने पास फ़ालतू थर्मस रखने का भी अधिकार है और एक को अपनी पत्नी की मृत्यु का भय सामने

रहते भी उसे दो दिन के लिए पाने का अधिकार नहीं।

दूसरा प्रश्न यह : क्या उस तरुण ने थर्मस के लिए झूठ बोलकर पाप किया? निश्चय ही उसने झूठ बोला और झूठ बोलना पाप है। मैं चाह रहा हूँ कि कहूँ — हाँ, उसने पाप किया है, पर साहस मेरा साथ नहीं दे रहा है कि मैं सुगमता से हाँ कह दूँ! यहीं तक नहीं; वह विद्रोही होकर कहना चाह रहा है कि कहूँ — यह पुण्य है।

बात यह है कि पण्डा-पुजारियों के उस पाप-पुण्य में मेरा विश्वास नहीं है, जो स्वर्ग का बुकिंग-ऑफ़िस या नरक का पासपोर्ट है। हाँ, चरित्र के उत्थान-पतन में मैं विश्वास करता हूँ और यहीं यह भी कि मैं उस नौजवान के इस कार्य को चरित्र की ऊँचाई ही मानता हूँ, पतन नहीं। निराशा, घबराहट और अवसाद की उन घड़ियों में सूझ की स्फूर्ति को जागृत रखना; उस समय भी अदीन और अभय रहना, यदि चरित्र नहीं है, तो मेरी दृष्टि में फिर चरित्र और कुछ नहीं है!

मेरे निकट इस घटना का एक पहलू और भी महत्त्वपूर्ण है कि वह अशिक्षित और निर्धन युवक समाज के अनेक प्रतिष्ठित पुरुषों के दुर्व्यवहार की प्रतिक्रिया से बच पाया। इतने बड़े मायाचक्र से वह कैसे बच पाया, यह स्वयं अपने में विस्मय का एक मायाचक्र ही है। उसे कई थर्मस-पतियों ने थर्मस नहीं दिया; यह जानकर भी कि उसकी पत्नी पल-पल मृत्यु की ओर बढ़ रही है, इस घटना की यह प्रतिक्रिया क्या कुछ अस्वाभाविक होती कि अब वह स्वयं ही थर्मस-पति बना रहता?

यह कितनी असाधारण बात हुई कि उसने सब थर्मसवालों को एक ही गज से नहीं नापा। थर्मस न देनेवालों पर उसे चाहे जितना क्रोध आया हो, पर धोखे से ही सही, थर्मस देनेवाले के प्रति उसकी कृतज्ञता अभंग रही।

उस अशिक्षित तरुण के अन्तर में अनजाने समायी भारतीय संस्कृति का ही तो यह मूक प्रदर्शन था!

मेरा थर्मस अब मेरे पास था और मैं अब अपने में खिला जा रहा

था। क्या मेरी प्रसन्नता का आधार यही था कि मेरा थर्मस मुझे मिल गया? ना, मेरी प्रसन्नता इतनी दूकानदार कभी नहीं हुई। इस घटना में मानवता का जो स्पर्श है, मुझे तो उसी ने पुलकित कर दिया है। यह जीवनप्रद पुलक न जाने कब-कब तक एक मधुर स्मृति के रूप में मुझे सुख देगा।

इस पुण्य पुलक के स्रष्टा उस धोखेबाज को मेरा प्रणाम !

□

पेड़, पशु, मनुष्य !

मेरी खिड़की के सामने एक पेड़ खड़ा है। मेरी ही तरह साधारण देह है उसकी; पर जब उसपर फूल आते हैं, तो मुझे ऐसा लगता है, जैसे आकाश से बरसी देवताओं की हँसी का अम्बार हो ! चारों ओर हलके लाल रंग के फूल; यहाँ तक कि पत्ते भी ढक-से जाते हैं ।

मैं अपने पलंग पर बैठा उसे घण्टों देखता रहता हूँ, पर मन नहीं भरता। मैंने अकसर सोचा है कि काली मिट्टी में जन्मे कुरूप तने पर आश्रित इस पेड़ में ऐसे कोमल पत्ते और इतने सुन्दर फूलों की सृष्टि विश्व का कितना बड़ा चमत्कार है। सोचते-सोचते ही मैं कई बार उठकर अपनी भावुकता के आवेश में उस पेड़ से जा लिपटा हूँ और मुझे ऐसा आनन्द आया है, मानो मैं अपने किसी मित्र से मिल रहा हूँ !

शास्त्र और विज्ञान दोनों वृक्षों को 'सजीव' मानते हैं। मेरा भी इसमें यों ही विश्वास-सा था, पर १९४२ की जेल-यात्रा में अपने साथियों के साथ जब मैं डाकू-वार्ड में बन्द किया गया, तो कुछ ही दिन पहले अपनी पत्नी की मृत्यु के कारण मेरे मन पर छायी शून्यता और भी घनी हो गयी। शून्यता के इसी वातावरण में एक दिन चाँदनी रात में अचानक चौक में खड़े पेड़ की जीवन-शक्ति का मुझे साक्षात् अनुभव हुआ और मुझपर से शून्यता का वातावरण कुछ हट-सा गया। तब से वृक्षों के साथ मेरी आत्मीयता और भी गहरी हो गयी।

उस दिन भी मैं कुछ ऐसे ही 'मूड' में था कि उस पेड़ के पास पहुँच गया। सन्ध्या का समय था और सूर्य की हलकी किरणों से वह और भी भव्य हो रहा था ।

मैंने कहा : आज तो मित्र, तुम अपनी हँसी में आप ही लिपटे जा रहे हो; क्या बात है ? पेड़ बेचारा क्या बोलता; पर तभी कुछ फूल नीचे चू आये। अपनी भावुकता में मुझे ऐसा लगा कि ये फूल मेरे प्रश्न का उत्तर हैं और तभी आत्मीयता के प्रवाह में मैं ऐसा डूब गया कि पेड़ के तने पर प्यार से थपथपाकर मैंने कहा : अच्छा चलो, कुछ दूर घूम आयें।

तभी हो गया मेरा खुमार कम और मैं आ गया भावुकता के आकाश से यथार्थ की पृथ्वी पर, जिसमें पेड़ पेड़ है और मनुष्य मनुष्य ! तब मैंने अपने-आपसे कहा : 'पागल, पेड़ है यह तो; यह कहाँ जायेगा !' मन में अफ़सोस-सा हुआ—काश, पेड़ भी चला करते !

मैं फिर विचारों में डूब गया। इस पेड़ में जीवन है, सौन्दर्य है और बहुत-सी बातों में यह आज के मानव से तो श्रेष्ठ ही है; पर इसमें गति नहीं है, इसीलिए यह स्थावर है।

इसी शृंखला में सोचता हुआ मैं घूमने चला गया और खेतों पर पहुँचते-पहुँचते एक सूत्र मेरे हाथ लगा, जिसकी तीन धाराएँ हैं :

— जिसमें जीवन है, पर गति नहीं है, वह पेड़ है,

— जिसमें जीवन है और गति है, वह पशु है, पर

— जिसमें जीवन है, गति है और गति की सही दिशा—प्रगति—भी है, वह मनुष्य है।

इन तीनों धाराओं का समन्वित भाष्य हुआ कि प्रगतिशीलता ही मानव की कसौटी है और यही उसे वृक्ष और पशु से पृथक् करती है।

—8

धीरे-धीरे जियो !

हमेशा जिस बरतन में मेरे स्नान के लिए पानी रखा जाता है, वह एक क़लई की कूंड़ है और उसमें कोई तीन बाल्टी पानी आता है। उस दिन समय के समय एक अतिथि आ गये, तो गरम पानी का बँटवारा हो गया। अब कूंड़ मिली उन्हें और अलमुनियम का बड़ा भिगौना मुझे — यह अपने में बड़ा होकर भी इतना छोटा कि एक बाल्टी में भरपूर !

भिगौना देखकर मुझे लगा कि आज पानी कम है और बिना सोचे भी इसका अर्थ हुआ — आज स्नान में वैसा आनन्द न आयेगा। फिर भी स्नान तो करना ही था, करने लगा, पर स्नान आज कुछ और तरह का लग रहा है। कैसा लग रहा है, सो कुछ स्पष्ट नहीं, पर लग रहा है कुछ और तरह का ही। ज़रा सचेष्ट होकर सोचता हूँ, तो यह लगना अच्छा है, कुछ बुरा नहीं।

यहाँ मेरा मन जाग-सा गया है। यह जाग एक प्रश्न बन रही है — जब पानी आज और दिन से कम है, तो स्नान अधूरा है। अधूरा होने का अर्थ है कि उसमें आनन्द की कमी है, पर यहाँ उलटी बात है कि आनन्द अधिक है, तो यह क्यों ?

प्रश्न उत्तर चाहता है, पर उत्तर तैयार तो है नहीं, उसे तैयार होना है। तैयारी प्रयोग चाहती है, काम माँगती है। इधर-उधर ध्यान गया, तो देखा कि रोज बड़ी कूंड़ के साथ स्नान करने को एक लोटा रहता था — संयोगवश आज गिलास ही है। लोटा शायद कूंड़ के साथ ही चला गया है। लोटा एक बार में सेर-भर से ज़्यादा पानी लेता है, तो यह गिलास पाव-भर ही और यों लोटे से नहाने में तीन बाल्टियों का पानी जितना

समय लेता है, आज एक बाल्टी पानी उससे ज्यादा समय ले रहा है।

मैं सोच रहा हूँ, यह देर तक नहाना ही आज का आनन्द है।

प्रश्न का उत्तर तो पूरा हो गया, पर प्रश्न भी तो एक पुरुष है, जो अकसर अपने साथ अपना कुटुम्ब रखता है। मुझे लग रहा है कि मन के भीतर एक नया प्रश्न उभरता आ रहा है। यह लो, वह आ गया ऊपर की सतह पर — स्नान की तरह जीवन की भी स्थिति नहीं है क्या, जो जल्दी-जल्दी जीने की अपेक्षा धीरे-धीरे जीने में अधिक आनन्द देता है ?

स्नान की बात जीवन में उतरी, तो गहरी हो गयी और मैं जाने विचारों के पाताल में कहाँ-कहाँ घूम आया। इस घूम-घाम में ज्ञान का यह सूत्र हाथ लगा : "सदा अंजलि को छोटी रखो; भले ही प्रश्न जीवन का हो या जीवन के किसी अंग का हो, सवासेरी लोटे से स्नान करने और गिलास से स्नान करने में यही तो अन्तर है कि पहले में अंजलि बड़ी है, दूसरे में छोटी !"

तभी मुझे याद आ गये गौन साहब। वे मेरी ही जन्मभूमि के एक युवक थे। प्लेग में पिता की मृत्यु हो गयी, तो सम्पदा हाथ आयी। आँखें कमज़ोर थीं, सो चौंधिया गयीं और खुल खेले। अब वे पूरे ज़ोरों में थे। इठलाकर चलते, इतराकर बोलते। हरेक बात के अन्त में कहते : गो-ओन। बस नाम ही पड़ गया गौन साहब !

गौन साहब की चारों तरफ़ चर्चा थी। होली में सांग खिलवाया, तो समा बँध गया। हज़ारों रुपये सांग-मण्डली, शराब और दावत में उड़ गये। "वाह साहब, आदमी तो गौन साहब हैं कि रुपये को कुछ समझते ही नहीं !" जो मिलता गौन साहब के जस गाता और जो जस गाता, कुछ पाता। मुफ़्त के पीनेवाले कहाँ सुलभ नहीं ? गौन साहब हमेशा दस-बीस में घिरे रहते !

चैत के मेले में गौन साहब का डेरा सबको मात कर गया। फुलवाड़ी भी रही, आतशबाजी भी और नाच-मुजरा भी। जो आया, खाकर गया, जो बैठा, पीकर ही उठा और देखनेवालों के तो ठट्ट लग गये। अब गौन

साहब की चर्चा गली-गली से घर-घर पहुँच गयी !

दो साल यही हाल रहा कि होली आयी, तो गौन साहब की और दीवाली आयी तो गौन साहब की। शहर के सब चमकते सितारे फीके पड़ गये, कुछ ऐसे चमके गौन साहब !!

बिना कमाये तो क़ारूँ का खज़ाना भी ख़ाली हो जाता है। गौन साहब की तिजोरी भी अब आज्ञा-पालन में हिचिर-मिचिर करने लगी, पर गौन साहब के तो हाथ और दिमाग़ दोनों ही खुले हुए थे। रुपये की कमी आयी, तो धीरे-धीरे ज़मीन साफ़ हुई, बाग़ गया और हवेली भी गिरवी होकर, अन्त में कुटुम्बियों के हाथ बिक गयी। इन्हीं आँखों, उन्हें तीसरे वर्ष मैंने फटे हालों भटकते देखा और तब उनका कोई दोस्त न था !!!

इस सबका सार संक्षेप में यही तो है कि गौन साहब जल्दी-जल्दी जिये !

ध्यान भी कहाँ से कहाँ चला जाता है। कहाँ गौन साहब और कहाँ उस तीर्थ के भिखारी ! उस दिन वर्षगाँठ थी मेरी। पत्नी ने कुछ पराँवठे बना दिये कि मैं भूखों को खिला आऊँ। छोटी-सी छबिया में लेकर गया, तो वहाँ उस समय तीन-चार भिखारी थे। उन्हें मैंने कई-कई पराँवठे दिये कि इतने में पाँच-सात भिखारी और आ गये। हाथ सकोड़ा और उन्हें एक-एक पराँवठा दिया, पर तब तक और आठ-दस आ गये। उन्हें आधा-आधा दिया कि पराँवठे समाप्त, पर कई भिखारी अब भी मेरे सामने, जो भूखी आँतों और प्यासी आँखों मुझे देख रहे थे !

बात का रूप कुछ हो, पर है यही बात कि अंजलि बड़ी थी। जो शक्ति थी, जो जीवन था, वह जल्दी समाप्त हो गया और जिन्हें मैं कुछ न कुछ दे सकता था, जो सुख भोग सकता था, उन्हें न दे पाया, वह सुख न भोग सका !

महात्मा टॉल्सटॉय की एक कहानी है कि राजा को कहीं से एक अनाज का दाना मिला। वह होगा कोई पाव-भर का, पर आकृति और बनावट

उसकी गेहूँ-जैसी ! आखिर यह क्या है ?

राजा ने आदेश दिया कि राज्य में जो सबसे बूढ़ा हो उसे बुलाया जाये, वह शायद इस बारे में कुछ बता सकेगा कि यह क्या है ? राजा के प्यादे चारों ओर दौड़ गये और एक दिन वे एक आदमी को लिये आये। आँखें उसकी लगभग ज्योतिहीन और पैरों में खड़े रहने की शक्ति नहीं, इसलिए राजा के प्यादे उसे कन्धों पर उठाये हुए।

अनाज के दाने को देखकर बूढ़े ने कहा, "यह गेहूँ है, पर इसके बारे में मैं अधिक नहीं जानता। हाँ, मेरे पिता इस बारे में आपको बता सकते हैं, वे अभी जीवित हैं।"

प्यादे फिर दौड़ गये और इस बार वे जिसे लाये उसकी आँखों में रोशनी थी, पैर में ताक़त; प्यादे उसे सिर्फ़ सहारा दिये, लिये आ रहे थे !

अनाज के उस दाने को देखकर तुरन्त बूढ़े ने कहा : "हाँ, हाँ, यह गेहूँ है। अपने बचपन में हमने इसे खूब खाया है, पर मैं इस बारे में और कुछ नहीं जानता। हाँ, मेरे पिता बहुत कुछ बता सकते हैं। सौभाग्य से वे अभी जीवित हैं।"

प्यादे फिर दौड़ गये और इस बार वे जिसे लाये, उसकी आँखों में रोशनी थी, कन्धों में उभार था। पैरों में ठुकाव था और वह बिना किसी का सहारा लिये धीरे-धीरे चला आ रहा था !

उसने राजा से कहा : "हाँ, जी, यह तो गेहूँ है, हमने बोया है, काटा है, गाहा है, खाया है !"

राजा ने पूछा : "तब यह क्या भाव बिकता था महाशय ?"

हँसकर बूढ़े ने कहा : "बिकना-बिकाना हम नहीं जानते, पर जितना चाहें, मिल जाता था। जिसके पास गेहूँ होता, वह देता और मिठाई या कपास, जो उसके पास न होती, ले लेता !"

कहानी तो समाप्त हो गयी और कहानी तो फिर कहानी ही है, पर मैं अब भी उसी दरबार में बैठा उन तीनों बूढ़ों को देख रहा हूँ — बेटे से बाप और बाप से बाबा अधिक स्वस्थ है, यानी बेटे के पास पचहत्तर वर्ष

की आयु में जितना जीवन-धन शेष है, बाप के पास सौ वर्ष की आयु में उससे अधिक और बाबा के पास एक सौ पचीस वर्ष की आयु में उससे भी अधिक शेष है।

क्या अर्थ हुआ इसका ? अर्थ क्या और फलितार्थ क्या; वही एक बात देख-भालकर खर्च करने की, अंजलि छोटी रखने की बात और धीरे-धीरे जीने की बात।

कागज दियासलाई के छूते ही जल उठता है और भभककर बुझ जाता है, पर कोयला धीरे-धीरे आग पकड़ता है और धीरे-धीरे ही जलता है। जलना ही उसका जीवन है।

मनोवैज्ञानिक मानते हैं और अनुभव उसका समर्थन करता है कि किसी बालक का अपनी छोटी आयु में अधिक बुद्धिमान् होना भयावह है। ऐसे बालक आगे चलकर डल हो जाते हैं या पागल। इसके विपरीत संसार के अनेक महापुरुष अपने बालकपन में बहुत ही धीमे थे।

अपनी स्मृतियों के मण्डप में आ विराजे अपने पिता के मैं दर्शन कर रहा हूँ इस समय। वे सत्तर वर्ष की आयु में भी पूर्ण स्वस्थ थे। उनमें इतना जीवन था कि देखकर ही जीवन मिलता था।

पिता जी, आप बुढ़ापे में भी इतने स्वस्थ हैं, इसका रहस्य क्या है ? एक दिन यह मैंने उनसे पूछा, तो बोले : तीन मुख्य कारण हैं इसके :

१. मैं सदा ब्रह्मवेला में नियमित रूप से जागता हूँ और स्नान, भोजन, विश्राम और भ्रमण आदि में नियमित रहता हूँ।

२. मैं सदा आदमी रहता हूँ, भगवान् कभी नहीं बनता। तुम्हें सौ रुपये मिल गये, तो खुश और खो गये तो गुम। मैं मानता हूँ सब काम ठाकुर जी की इच्छा से हो रहा है। आया भी उनका, गया भी उनका, सुख भी उनका, दुःख भी उनका।

३. मैं हमेशा बच्चों में खेलता हूँ। ये मुझे नया जीवन और फुरती देते हैं। हँसकर बोले : मेरे बालमित्रों में और बुढ़ापे में युद्ध हो रहा है। वह मुझे जितना थकाता है, ये मुझे उतनी ही शक्ति दे देते हैं। किसी

दिन तो बुढ़ापा जीतेगा ही, पर खैर अभी तो बेचारा पिट रहा है !

लोटे और गिलास के ऊहापोह में पड़ा, आज मैं सोच रहा हूँ कि मेरे पिता जी ने उस दिन धीरे-धीरे जीने का व्याकरण ही तो मुझे पढ़ाया था।

मेरा जीवन ही उ का जीवन है – यानी व्यक्ति का जीवन ही राष्ट्र के जीवन का आधार है। यों व्यक्ति की तरह राष्ट्र भी धीरे-धीरे ही जिये, तो श्रेयस्कर है, पर सभ्यता और विज्ञान दोनों ही उसे आज तेजी दे रहे हैं, जो सुविधा हमें भले ही दें, सुख कहाँ दे पाते हैं !

भारतीय जीवन धीरे-धीरे जीने का जीवन है। उसमें उद्वेग और आवेग नहीं है, सन्तोष और शान्ति ही उसके मूल आधार हैं।

सन्तोष और निराशा एक नहीं है। जो हमें मिला है, धैर्य के साथ हम उसका उपभोग करें और जो हमें मिलना है उसके लिए धैर्य के साथ उद्योग भी, पर इस उपभोग और उद्योग में हाय-हाय न हो, अशान्ति न हो, क्योंकि 'यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्' जो हमारा है, हमें मिलना है, वह किसी और का नहीं हो सकता !

क्या हमें मिलना है और क्या पाने का हम उद्योग करें, इसकी भी एक मर्यादा है। यह मर्यादा ही भारतीय जीवन-दर्शन है। गान्धी जी ने इस जीवन-दर्शन को पूरी तरह समझा था और उनका चरखा उनकी दृष्टि में इसके पुनरुज्जीवन का ही प्रतीक था !

संक्षेप में जीवन का आदर्श साँचे में ढला पुरजा नहीं, वृक्ष पर खिला पुष्प है। वह बटन दबाते ही खिंच जानेवाला फ़ोटो नहीं, ब्रश और उँगलियों की कारीगरी से धीरे-धीरे बननेवाला चित्र है।

हम जीवन में दौड़ लगाते हैं। दौड़ना बुरा नहीं है। दौड़ने की शक्ति हममें हो, समय पर दौड़ सकें, यह आवश्यक है, पर दौड़ना जीवन का कोई साधारण नियम नहीं है – शयनकक्ष से दौड़कर रसोईघर में घुसना तो एक पागलपन ही है !

धीरे-धीरे जीने का अर्थ रुकना नहीं है। रुकना मृत्यु है। यह जीवन में पाप है; क्योंकि यह जीवन नहीं, जड़ता है। 'धीरे-धीरे जियो' का

अर्थ इतना ही तो है कि जीवन की शक्ति को सँभालकर खर्च करो।

जीवन के इस सत्य को एक बार पहले भी मैंने अनुभव किया था। उस दिन मैं शौचालय में गया, तो विचारों में डूबा हुआ था। जब ताम-लोट के बहुत-से पानी का उपयोग कर चुका, तो मुझे अनुभव हुआ कि अभी मैं पूरी तरह नहीं निपट पाया। अब मेरे सामने प्रश्न था कि यह पानी तो कम है, क्या करूँ? सोचकर मैंने निश्चय किया कि जितना पानी शेष है, उसे ही हाथ थामकर बरतूँगा।

अन्त में मैंने यही किया और मुझे आश्चर्य हुआ कि जिस स्वच्छता के लिए पूरा बरतन-भरा पानी अभीष्ट था, वह थोड़े पानी में भी हो गयी। तभी मैंने सोचा था : जीवन का भी बहुत अंश यों ही फल-फल बह जाता है। हम उसके बहुत थोड़े अंश का ही उपयोग कर पाते हैं पर मानते रहते हैं कि इतने काम के लिए इतनी शक्ति, इतने साधन चाहिए, जब कि सत्य होता है यह कि हम उससे बहुत कम शक्ति और साधनों से ही यह काम कर सकते हैं।

□

मरना : एक कला; एक चांस !

हरेक मित्र अपने मित्रों से बहुत-से प्रश्न पूछता है, जिनसे उनके जीवन का सम्बन्ध होता है। प्रश्न पूछने का अर्थ है : जीवन की समस्याओं में साझीदार होना! मैं भी आपका मित्र हूँ और इसलिए आपसे एक प्रश्न पूछ रहा हूँ।

प्रश्न बिना किसी भूमिका के यह है : आप अपने लिए कैसी मृत्यु चाहते हैं ?

अरे; आप प्रश्न सुनकर चौंक रहे हैं! क्यों ? इसलिए कि यह अशुभ बात, बेतुकी बात आपसे पूछकर मैं अशिष्टता कर रहा हूँ ?

आश्चर्य है कि आप इस आवश्यक, शुभ और महत्त्वपूर्ण प्रश्न को अशुभ और बेतुका बता रहे हैं। बात यह है कि जीवन की व्यस्तता में आपने इस प्रश्न पर कभी विचार ही नहीं किया।

आपने सोचा है : आपका पुत्र जो अभी पाँचवीं क्लास में पढ़ता है, एम. ए. पास करके कलक्टर हो जायेगा !

आपने सोचा है : अभी आप जो मरियल-सी दूकान कर रहे हैं; बीस वर्ष बाद वह एक बड़ी फ़र्म के रूप में बदल जायेगी।

आपने सोचा है : अगले चुनाव में तो शायद, पर हाँ, उससे अगले चुनाव में आप अवश्य प्रान्त की विधान-सभा के सदस्य चुन लिये जायेंगे।

आपने सोचा है : यह, वह, वोह, पर जो कुछ आपने सोचा है, वह सब तो जीवन में क़तई अनिश्चित है। जीवन में निश्चित है मृत्यु और उसी के बारे में आपने कुछ सोचा नहीं ! इसपर आश्चर्य यह कि आप अनिश्चित बातों पर निरन्तर विचार को अपनी बुद्धिमत्ता और निश्चित

बात के सम्बन्ध में विचार करने के मेरे निमन्त्रण को बेतुका बता रहे हैं !!!

कृपा कर अपनी भूल को समझिए और तुरन्त सोचिए कि आप अपने लिए कैसी मृत्यु पसन्द करते हैं ?

मनचाही मृत्यु का मिलना निश्चित नहीं; ठीक है, फिर भी उसके सम्बन्ध में सोचना आवश्यक और उचित है। क्या आप नहीं मानते कि आसमान के तारे तोड़ने का प्रोग्राम बनानेवाले की अपेक्षा, वह आदमी अधिक बुद्धिमान् है, जो पेड़ से आम तोड़ने का प्रोग्राम बनाये ?

फिर विश्व के अनुभव की साक्षी है कि मृत्यु मनुष्य की एक विवशता ही नहीं, एक कला और एक चांस भी है !

दारा एक सुकुमार साहित्यिक और औरंगज़ेब एक क्रूर शासक। दोनों सगे भाई, पर दारा जेल में बन्दी और औरंगज़ेब दिल्ली के तख़्त पर। फिर भी दारा एक ख़तरा, एक काँटा और औरंगज़ेब काँटों को कुचल डालने का आदी – एक दिन दारा का वध करने कुछ जल्लाद दारा की कोठरी में पहुँचे।

एक महान् पुरुष के सामने कुत्ते की मौत और उससे बचने का कोई चारा नहीं। कहाँ दारा और कहाँ एक मामूली बकरे-सी यह मौत !

उसने हरबे-हथियारों से लैस क्रूर जल्लादों की जलती आँखों में झाँका और फिर अपनी तरफ़, उसके हाथों में एक मामूली चाकू था, जिससे वह इस समय सेब छीलकर खा रहा था।

दारा कूदकर खड़ा हो गया। उसने ललकारा : "कम्बख़्तो, तैमूर का वंशज दारा कुत्ते की तरह घुटकर नहीं, एक बहादुर की तरह लड़ते-लड़ते मरेगा !" और उसने उछलकर अपना चाकू अपने हत्यारों पर चलाया।

क्रूर हत्यारों के तेज़ हथियार चले और पलक मारते दारा की लाश ज़मीन पर आ गिरी, पर तभी स्वर्ग के शहीदों ने पुकारा : "दारा, तू आज हमारा अतिथि होगा !"

एक चाक़ू के वार ने वध को बलिदान में बदल दिया और दारा की मृत्यु इतिहास की शानदार शहादतों में शुमार हो गयी !

और मौत ने ही महान् राष्ट्र-निर्माता स्वामी श्रद्धानन्द को जनता के स्मृति-संस्कारों में एक साम्प्रदायिक नेता-सा बना दिया !

स्वामी श्रद्धानन्द ही तो थे, जिन्होंने उस अँधेरे निशीथ में शिक्षा के राष्ट्रीयकरण का स्वप्न देखा और अपने हाथों गुरुकुल के रूप में उसे साकार किया !

वे स्वामी श्रद्धानन्द ही तो थे, जिन्होंने हिन्दुओं में एक-मात्र यह सौभाग्य प्राप्त किया कि वे दिल्ली की जुमा मसजिद में हज़रत इमाम की जगह खड़े होकर प्रवचन दें !

और स्वामी श्रद्धानन्द ही तो थे वे, जिन्होंने मार्शल्ला के दिनों में अपनी खुली छाती अँगरेज़ी संगीन के सामने अड़ा दी !

पर हाय, स्वामी श्रद्धानन्द ही तो थे वे, जो एक साम्प्रदायिक दीवाने के हाथों गोली खा, मर गये। मौत जीवन से ताक़तवर निकली। मनुष्य मनुष्य की तरह जीता है अपने पुरुषार्थ से, अपनी प्रतिभा से, पर मनुष्य की तरह ही उसे मौत भी मिले, यह उसके भाग्य के अधीन है या उसकी कला के इसे मैं नहीं जानता — शायद यह दोनों के ही अधीन है !

स्वामी श्रद्धानन्द के विरुद्ध मौलाना मुहम्मद अली का जीवन है। वे जीवन-भर ख़ादिम-ए-काबा रहे, कभी ख़ादिम-ए-वतन न हुए; निश्चय ही अंगरेज़ के कभी दोस्त नहीं ! मुल्क के मैदान में उतरे भी, तो ख़िलाफ़त की डोर पकड़े और जिये भी, तो तबलीग़ के तबेले में साँस लेकर। हद हो गयी उस दिन, जब वे कांग्रेस के प्रेसीडेण्ट चुने गये और उन्होंने अपने ख़ुतबए सदारत — सभापति-अभिभाषण में अछूतों को आधा-आधा बाँटकर हिन्दू-मुसलिम एकता स्थापित करने की बात कही !

इसके बाद तो वे बेनाम हो गये और एक दिन अचानक उनका नाम देश के पत्रों पर तब छा गया, जब गोलमेज़ कान्फ्रेन्स में भाषण देते हुए उनकी भावुकता एक वाक्य में बोल उठी : "मैं भाषण के लच्छे उड़ाने इंग्लैण्ड नहीं आया। मैं अपने देश के लिए स्वतन्त्रता लेने आया हूँ। आपको मुझे वह स्वतन्त्रता देनी पड़ेगी या फिर मेरी क़ब्र के लिए जगह !" और सचमुच दूसरे दिन उनका हार्टफ़ेल हो गया !

एक; और बस एक वाक्य ने मृत्यु की मनहूसियत पर उमंगों की रंगीनियाँ छिड़क दीं और मुहम्मद अली का भूला नाम लोगों के दिलों में ताज़ा कर दिया ! लोगों ने सोचा और कहा : "भटक गया तो क्या, आख़िर खानदानी देशभक्त था !"

मृत्यु की मसखरियाँ अजीब हैं। किसी को वह अपनी गोद में सुलाकर महत्ता देती है तो किसी को अपने आँचल की छाया से दूर रखकर !

महात्मा सुकरात के विचारों की आग उस युग के पोपले धर्म-नेता न सह सके, तो उन्होंने राज-सत्ता का सहारा ले, एक मुक़दमे का स्वांग रचा और उनके लिए मृत्यु-दण्ड की घोषणा की।

मृत्यु-दण्ड से पहली रात में सुकरात के भक्तों ने तिकड़म लड़ा, यह प्रबन्ध कर लिया कि वे सुकरात को जेल से ले उड़ें, पर जब वे रात में अपना प्रस्ताव लिये सुकरात के पास आये, तो उत्तर मिला : "क्या तुम चाहते हो कि जिन सिद्धान्तों का प्रचार मैंने जीवन-भर किया, उन्हें मृत्यु से डरकर मैं स्वयं ही झूठा सिद्ध कर दूँ ? जाओ, मैं यहीं मरूँगा और भागूँगा नहीं।"

और यों मृत्यु की गोद में सो, सुकरात एक साधारण प्रचारक से बहुत-बहुत ऊपर, एक अमर विचारक हो गये।

नेपोलियन महान् था, अपने जीवन से, अपने कर्म से, अपनी विजयों से। यूरोप को उसने कई बार अपने पैरों रौंदा और जिधर बढ़ा, बढ़ता ही चला गया, पर उसकी महत्ता के महल का कलश क्या यह बढ़ना है ?

ना; एक बार नही और सौ बार नही। उसकी अमरता का रहस्य उन विजयों में नही, उस पराजय में है, जिसने उसे सम्राट् से एक बन्दी बना दिया। नेपोलियन ने पराजित हो, हिटलर की तरह आत्म-हत्या नही की — वह पन्द्रह साल एक क़ैदी की सूरत में जिया; और यही — एक क़ैदी बनकर ही, वह महान् है!

मनुष्य अपनी कला और अपने भाग्य से ही अच्छी मृत्यु नही पाता; कभी-कभी मनुष्य के शत्रु ही उसकी मृत्यु को सौन्दर्य देने का काम किया करते हैं।

१९२४ में लाला लाजपतराय ने कांग्रेस से क्या बगावत की, अपने भाग्य से ही बग़ावत की। वे पंजाब-केशरी होकर जिये थे और इस तरह कि जिधर वे जायें, वातावरण में एक गरमी बरस पड़े, पर जो अब इस तरह रहे थे कि जीवन के चारों ओर उदासी का घना कोहरा था!

और यों १९२९ का साल, साइमन कमीशन के बायकाट की गरमी लिये देश मे आया। साइमन कमीशन लाहौर में और लाला जी बायकाट के नेता। एक दिन उन्होंने भीम-गर्जना की : 'साइमन, गो बैक!' तो पुलिस प्रबन्धक सौण्डर्स के कानों पर उनकी ललकार हथौड़े-सी पड़ी। उसका दिल-दिमाग ही नही, हाथ भी बेक़ाबू हो गये और उसके डण्डे की लाला जी पर वह मार पड़ी कि उन्हें मारकर ही रही!

सौण्डर्स ने उन्हे चुटोला कर मरने को मजबूर कर दिया, पर मरकर ही तो वे जीवन के चारों ओर छाये हुए, उस कोहरे को भेद सके! उनकी अरथी के साथ सारा लाहौर था और आज भी उनकी याद आती है, तो अरथी के उस जलूस की गौरव-गर्वित गरमी लिये आती है, १९२४ से १९२८ तक उनके जीवन पर छायी उदासी लिये नही!

ये हुईं नेताओं की कथाएँ, बड़े आदमियों की कहानियाँ, पर मृत्यु का

चमत्कार बड़े और छोटे को नहीं देखता। १९५१ में ज़रा-सी बात ने आसाम के एक डाकिये को दयनीय मृत्यु को एक महान् मृत्यु का रूप दे दिया।

दो डाकिये, जिनसे अपना आवश्यक कार्य लेने में उदार होकर भी समाज जिन्हें मान देने में कृपण रहा है, देहाती डाक के थैले लिये एक जंगल से गुज़र रहे थे। अचानक कहीं से शेर आ कूदा और उनमें से एक को थाम ले चला। मौत के भयंकर जबड़े में फँसे उस डाकिये ने अपना थैला दूसरे डाकिये की तरफ़ ज़ोर से फेंककर कहा : "ले, यह थैला अच्छी तरह डाकघर पहुँचा देना, भूलना मत नहीं तो मेरी आत्मा वहाँ तड़पेगी !"

कर्त्तव्य की यह निष्ठा उसके सारे विभाग में प्रशंसित हो, सदा-सदैव को प्रेरणा का एक स्रोत बन गयी !

मृत्यु से मोरचा लेना तो बड़ी बात है ही, कभी-कभी मृत्यु को एक मीठा निमन्त्रण दे देना ही जीवन को एक नयी रौनक़ दे देना है।

'हरिजन-सेवक' में प्रकाशित यह घटना कितनी मर्मस्पर्शी है। एक शिकारी किसी गाँव में गया और एक मोर पर निशाना साधने लगा। एक देहाती ने उसे मना किया, पर वह न माना, तो देहाती मोर और शिकारी के बीच आकर खड़ा हो गया। शिकारी जोश में था, उसने गोली दाग दी। देहाती घायल हो, गिर पड़ा। अब नजदीक था कि देहात के लोग शिकारी का कचूमर निकाल दें, पर वह देहाती, तेज़ी से सरक-कर भीड़ और शिकारी के बीच आ गया। उसने जो कुछ कहा – उसकी सरल अभिव्यक्ति यह है : "मैंने जब मोर को ही नहीं मारने दिया, तो इसे क्यों मारने दूँगा !"

और बस अपने इस उदाहरण से वह सामान्य देहाती भारतीय जीवन में रमे दया-करुणा और अहिंसा के शाश्वत संस्कारों का सजीव प्रतिनिधि हो गया !

मृत्यु इस जीवन का अन्त है।

मृत्यु दूसरे नये जीवन का आरम्भ है।

मृत्यु से जब तक बन सके, बचे रहना ही जीवन का पुरुषार्थ है।

मृत्यु का यथार्थ वरण ही जीवन का चरम विकास है।

मृत्यु के सम्बन्ध में ये भिन्न-भिन्न मत हुए, पर मृत्यु के सम्बन्ध में हमारे ज्ञानकोष का सर्वोत्तम रत्न क्या है ?

हमारे राष्ट्रीय इतिहास का सबसे सनसनीखेज मुक़दमा भगतसिंह-बमकेस के नाम से अँगरेजी अदालत के सामने आया, तो राष्ट्र के सोये-से वातावरण में एक बिजली-सी कौंध गयी।

मुक़दमा उभरा ही था कि क्रान्तिकारी पार्टी का एक सदस्य फणीन्द्र मुकर्जी पुलिस का भेदिया बन बैठा। पार्टी के रहस्य अब खतरे में थे। निश्चय हुआ कि उसे गोली मार दी जाये, पर गोली कौन मारे ? बिहार में कहीं पार्टी की मीटिंग हुई। मीटिंग में पार्टी के नेता श्री किशोरीप्रसन्न सिंह भी थे और उनकी पत्नी सुनीति देवी भी !

सुनीति देवी ने प्रार्थना की : यह काम मुझे सौंपा जाये, पर किशोरी बाबू ने आदेश के इशारे से उन्हें बैठा दिया। सलाह-मशविरे के बाद यह काम एक दूसरे सदस्य को सौंप दिया गया, जिन्होंने उसे पूरी सफलता के साथ किया भी।

इस घटना के कुछ वर्ष बाद सुनीति देवी को तपेदिक़ हो गया। लाख प्रयत्न हुए, पर मृत्यु का पंजा ढीला न पड़ा। मृत्यु से कुछ घड़ियाँ पहले सुनीति देवी ने अपने पति श्री किशोरी बाबू से कहा : "मेरी बिदाई का समय अब दूर नहीं, इसलिए मुझे आपसे एक बात कहनी है।"

"हाँ, हाँ, कहो भी !" फूल और फ़ौलाद से निर्मित किशोरी बाबू ने कहा।

"जब किसी आदमी को आदमी की तरह मरने का मौक़ा मिल रहा हो, तो उसे कभी रोकना मत !" सुनीति देवी ने कहा।

यह संस्मरण उस बार मसूरी में गद्गद कण्ठ किशोरी बाबू से सुना तो सोचा : मृत्यु के सम्बन्ध में मनुष्य के ज्ञान-कोष का सर्वोत्तम रत्न यही है कि मनुष्य अधिक से अधिक जीने का पुरुषार्थ करे, पर उसे मनुष्य की तरह मरने का जब भी अवसर मिले, तो वह चूके नहीं।

□

शुभकामना; एक जीवन-तत्त्व !

दीपमालिका के उपलक्ष्य में मित्र की शुभकामना का पत्र मिला — मित्र के स्वभाव का ही प्रतीक-सा निर्मल और सरल, पर यह है क्या ? एक छपा हुआ पत्र, सुन्दर कवर और एक शिष्टाचार ! बस इतना ही; तो यह सब कुछ नहीं। मित्र ने व्यर्थ ही मेरे मूक प्राणों में यह खलबली उठायी और अपने श्रम की कमाई के कई पैसे डुबाये।

"यह शुभकामना है जी !" तब यह ठीक है और इसके लिए जरूरी हो तो धन्यवाद, पर यह धन्यवाद जरूरी है नहीं; अरे व्यर्थ है बाबू, और नाराज़ न हों तो मुझे कहना है कि बेहूदा है। यह पश्चिम की गंगा में बहकर आया हुआ कूड़ा-कचरा है ! थैंक्स और धन्यवाद का भी जीवन में स्थान है, यह माने लेता हूँ, पर कहाँ और कितना, यह तो विचारणीय हुआ ही !

हाँ, तो यह शुभकामना है। अँगरेजी में एक चीज है 'गुडविश'; यह इसी का अनुवाद है शुभकामना। वहाँ थैंक्स की तरह यह भी एक शिष्टाचार है, पर हमारे भारतीय जीवन के अन्तस्तल में जो सुदृढ़ स्तम्भ हमारी संस्कृति को थामे हुए हैं : उसे प्रलयंकारी तूफ़ानों, दिगन्तव्यापी बवण्डरों और शैतानियत के मनोरम, पर सर्वनाशकारी प्रवाहों से बचाये रहे हैं, उनमें ही एक है : शुभकामना। यह हमारे ऋषियों की स्वयं उपार्जित सम्पदा है और हमारे राष्ट्र की मौलिक विभूति, जो शायद दुनिया में और कहीं प्राप्य नहीं।

इतनी बड़ी बात है यह हमारी शुभकामना ! और जानते हैं इस शुभकामना का आधार है सन्तोष — अपने प्रति हाय मैं, हाय मेरी प्यास

को जीतकर सारे जगत् के साथ 'विराग' की भावना का उद्रेक करनेवाला अमृत, सन्तोष।

यह शुभकामना क्या है ? सारे जग से पृथक्, पर सारे जग के विपुल प्राणों में प्राण डाले, कहीं सुदूर वन में, पर्वत की कन्दरा में, हिमालय के बर्फ़ीले शिखर पर बैठा योगी भगवान् से माँग रहा है। क्या माँग रहा है; यह तो जानना ही है, पर प्रश्न तो यह उठ खड़ा हुआ कि यह कम्बख्त अपनी सम्पदा, नारी, शिशु और मान सब कुछ छोड़कर तो यहाँ आया था, पर यहाँ भी इसमें इच्छाएँ शेष हैं, यहाँ बैठा भी यह कुछ चाहता है ? हाय री चाह ! कहाँ तक तू इसे लिपटी रही ? यहाँ भी यह कुछ माँग ही रहा है !

पर यह जानने में ही कि वह क्या माँग रहा है, इस प्रश्न की समाप्ति होगी। वह माँग रहा है – "तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु !" मेरा मन शिवसंकल्प से भर उठे – इसमें शुभकामना का आलोक प्रदीप्त हो उठे मेरे प्रभु !

फिर प्रश्न उमड़ा। योजना की शक्ति है उसके पीछे कार्य करनेवाला व्यवहार; कर्म न हो तो योजना क्या करे ? पर यह योगी, कर्म का संन्यास लेकर तो यहाँ आ बैठा, लँगोटी तक तो इसके पास नहीं, फिर इसके शिवसंकल्प क्या करेंगे ? है न प्रश्न गहरा और भेदभरा ? पर इस संसार में योगी की यही तो क़ीमत है कि वह संसार के लिए, हमारी जीवन-लता के लिए शिवसंकल्प करता है। यही उसकी सेवा है, यही उसकी देन है, और यहीं तो वह दूर बैठकर भी हमारे जीवन का पूर्णतया भागीदार है। तभी तो वह हमारा है, हम उसपर गर्व करते हैं, उसे पूजते हैं। यदि वह एकान्त में बैठा अपने निर्वाण के लिए तप कर रहा है, तो हमसे उसे मतलब, उससे हमें काम ! वह करे तप, मरे-जिये, मुक्त हो या योगभ्रष्ट होकर योनियों के मायाजाल में भ्रमता फिरे या स्वर्ग की अप्सराओं के इन्द्रजाल में पड़कर भ्रष्ट हो, नष्ट बने; हम उसमें दिलचस्पी क्यों लें ?

पर ऐसा तो नहीं है न। वह हमारा है, हमारा अपना है, हमारे जीवन में उसका स्थान है, जैसे घड़ी में फनर! हमारे लिए वह काम करता है, हम अपने लिए दिन के प्रकाश मे काम करते हैं, वह रात की अँधेरी और उजारी घड़ियों में भी हमारे लिए काम करता है। हम काम भी करते हैं, आनन्द भी लूटते हैं, विश्राम भी लेते हैं, पर उसका काम, आनन्द और विश्राम यही है कि वह हमारे लिए शुभकामना करे – अपना मन सदा शिवसंकल्प से भरा रखे।

बस यहीं एक प्रश्न और; और बहुत जरूरी प्रश्न, जो इस समस्या को भीतर तक उधेड़कर रख दे। योगी बड़ा अच्छा है, हमारे लिए रात-दिन शुभकामना करता है, हम उसके कृतज्ञ, पर जीवन में सबसे बड़ा प्रश्न तो उपयोगिता का है। हमारे लिए वह शुभकामना करता है ठीक, पर हमें इन शुभकामनाओं से मतलब? हमारा उनसे लाभ? पागल के प्रलाप-सी खूब हैं ये शुभकामनाएँ। अरे भाई, उन योगीजी का भी अजीब दिमाग़ है कि हमें छोड़कर वहाँ जंगल में जा बैठे और अब हमारे लिए शुभकामना कर रहे हैं! क्या खूब? यह अद्भुत इश्क़ है! तिलस्मी मुहब्बत है! इन शुभकामनाओं की हमारे लिए उपयोगिता क्या है?

उपयोगिता का प्रश्न व्यावहारिक है, इसका समाधान भी भावुकता के रूप में न हो, यह ठीक होगा।

अच्छा, यह जो अन्तरिक्ष है विराट्, व्यापक, जाने कहाँ-कहाँ तक फैला, यही विचारों का केन्द्र है, इसमें अनन्त विचार भरे हैं। कवि अपने शान्त, एकान्त में बैठा कविता लिख रहा है और चोर अपने शान्त एकान्त में स्थिर, राजा के महल में पाड़ लगाने की विधि सोच रहा है। कवि को भाव मिले, चोर को विधि, तो क्या यह भाव और विधि, कवि और चोर की सृष्टि है? ऊपर से देखकर हम कहते हैं हाँ-हाँ, पर सत्य अभी और नीचे है।

भाव और विधि चिर से अन्तरिक्ष में थे, चोर और कवि ने उन्हें पकड़ लिया। रेडियो का यन्त्र हमारे घर में लगा है, गाने गाता है, भाषण

देता है, नाटक करता है, पर यह सब उसकी सृष्टि तो नहीं, वह अन्तरिक्ष में से इन्हें पकड़ता, यही उसकी चरितार्थता है। तभी तो चोर को चोरी की विधि मिली और कवि पा गया कोमल भाव। वहां सब कुछ है, जैसा जिसका यन्त्र है, वह वैसा ही ग्रहण करेगा।

हां, वाल्मीकि था डाकू – एक सत्सम्पर्क पा, वह साधक हो गया, पर एक पक्षी का वध देखकर बन गया आदि-कवि ! अरे, एक पुराने डाकू को यह क्षमता ? यह भाग्य है। अन्तरिक्ष में बहती एक दिव्य भावना उसके मानस-यन्त्र में उतर आयी, पर एक डाकू के मानस-यन्त्र में ऐसी दिव्य ध्वनि क्यों और कैसे ? यह पूछना चाहते हैं न आप ?

जब पक्षी मरा और पक्षिणी विरह-वेदना में तड़पी, तो एक तरफ़ पक्षी की प्यास-भरी आंखें, दूसरी ओर पक्षिणी की प्यार-भरी .खें, यही था न, चारों ओर पारिवारिक जीवन का कोमल, करुण प्रवाह ! इस प्रवाह में डाकू बह गया और निकला एक भावुक मानव। बस बदल गया रेडियो और जहां ध्वनित था वध, लूट, डाका; वहां प्रतिध्वनित हुई कविता, आदि-कवि वाल्मीकि की रसवाणी ! ऊपर से दीखता है कि डाकू को यह कविता मिली, पर डाकू को नहीं, एक भावुक को ही तो कविता मिली !

अच्छा, हमारे रेडियो में तो वह बजता है, जो दिल्ली, लन्दन या मास्को बोलते हैं, पर इस मानस-यन्त्र में अन्तरिक्ष से जो उतरा, वह कहां से आया ? उस धरातल का 'ब्राडकास्टिंग स्टेशन' कहां है ?

बस आ गये तुम सही जगह; वह स्टेशन है योगी, तापस, विचारक और प्रत्येक शुभकामना करनेवाला मानव और आंखों ही आंखों में शिव संकल्प करनेवाले पशु-पक्षी। इनका क्षेत्र है भावनाओं की अन्तरिक्ष में सृष्टि और परिष्कार। वायु को विशुद्ध करनेवाली ओषधियों की तरह, ये हमारे मौन संरक्षण हैं और यहीं इनका सम्मान है, प्राचीन समाज-व्यवस्था का महान् ब्राह्मणत्व यही है और यही है शुभकामना !

राष्ट्र के लिए सिपाही युद्ध करता है, पर कवि ? वह केवल कविता

लिखता है। और एक बूढ़ा, युद्ध से दूर पड़ा अपाहिज ? वह केवल शुभ-कामना करता है। राष्ट्र के जीवन-यन्त्र के ये सब पुरज़े समान महत्त्व के हैं। पिछली लड़ाई के दिनों आधे संसार में जो 'वी' का आन्दोलन चला था, वह क्या है ? कोई अपने कोट पर 'वी' लगाये या 'सतिया', रणभूमि में लड़ते सिपाहियों को उससे मतलब ? हाँ, मतलब है और बड़ा भारी मतलब है और इस मतलब में ही तो छिपा है : शुभकामना का महत्त्व !

गान्धी जी जब नया आन्दोलन आरम्भ करते, तो धन भी माँगते, जान भी माँगते और शुभकामना भी माँगते थे। जो न खद्दर पहने, जो न जेल जाये, जो न चन्दा दे, उसकी शुभकामना में आग लगे, यह हमारी भाषा है, पर उस महापुरुष के लिए तो उसका बहुत महत्त्व था। वह जिससे लड़ते, उससे ही लड़ाई के साधनों पर, रूप पर भी विचार करते। वायसराय उनका शत्रु था या सलाहकार ? केवल एक क्षेत्र में 'शत्रु' था— इंगलैण्ड के प्रतिनिधि के रूप में, जहाँ वह हमारी ग़ुलामी का बाडीगार्ड था, बस केवल वहीं और बाक़ी जो विशाल क्षेत्र पड़ा है, वहाँ वह मित्र ही क्यों न रहे ? जीवन-गृह के एक ही कोने में तो युद्ध है। बाक़ी तीन में शुभकामना का राज्य क्यों उजड़े ? समझने की बात है, पर अमल करने की भी तो बात है ? है न !

हमारे देश में 'दाना दुश्मन' को 'नादान दोस्त' से श्रेष्ठ माना जाता है। दोस्त आखिर दोस्त है, वह दुश्मन से भी गया-बीता क्यों ? बड़ा चुभता प्रश्न है। हमारे अपढ़ देहातों में ऐसे उदाहरण हैं सैकड़ों-हजारों कि आप के साथ जन्म-भर दुश्मनी रही, उसे मिटाने का यत्न कभी शिथिल न हुआ, पर वह मरा और आप स्वयं उसके अबोध बच्चों के संरक्षक हैं। क्यों, उन्हें मिटा क्यों न दिया कि जन्म-भर की दुश्मनी सफल हो ? "ना, दुश्मन तो मर गया, अब दुश्मनी का क्या मजा ? बच्चे ! अरे वे जैसे उसके, वैसे अपने। कोई उन्हें तिरछी आँख से देखे, तो आँख न निकाल लें। ये यतीम तो नहीं, वह्ी मर गया, हम तो हैं !" वाह री, शुभकामना ! भारतीय जीवन के रोम-रोम में व्याप्त जीवन का अमरतत्त्व !!

मुसलमान शासक की युवती बेगमें शिवाजी के हाथ लगीं, पर क्या किया उन्होंने ? उन्हें लूट लिया ? उनके रूप-रस का पान किया ? उन्हें क़त्ल कर दिया ? ना, तो उन्हें दरबार में नंगी नचा, अपनी दुश्मनी का बदला लिया ? यह भी नहीं ! उन्हें सम्मान के साथ उनके घर भेज दिया। क्यों ? यह शुभकामना का अस्त्र है।

तो इतनी बड़ी है शुभकामना ! मैं अब और क्या कहूँ कि हममें सच्ची शुभकामना जागे, उसकी शक्ति हम जानें और उसका प्रयोग भी।

□

जब कुत्ता भौंक रहा था !

अपने एक मित्र की बैठक में बैठा, मैं उनसे बातें कर रहा था। बैठक में खिड़कियाँ इस तरह कि सड़क दूर तक दिखाई दे। मेरे मित्र मेरे लिए शिकंजवी लेने गये, तो मेरा दिमाग़ ज़रा खाली हुआ और स्वभाव के अनुसार उसे सोचने की फ़ुरसत मिली, पर वह सोचे क्या ?

भौं:, भौं: ! शब्द ने मस्तिष्क को राह दी, देखा – सामने गली के मोड़ पर एक मकान की दहलीज में कुत्ता बैठा है और जो सड़क पर आता-जाता है, उसे भौंकता है। भौंकना उसकी आदत है।

अब सोचना कुत्ते से जा मिला है। यह क्यों भौंकता है ? इसकी यह आदत क्यों है ? आखिर यह क्या कहता है ? प्रश्न तो बहुत-से हैं, पर उत्तर तो किसी का भी नहीं। कुत्ता मेरी भाषा नहीं जानता कि मुझे बताये और मैं उसकी भाषा नहीं जानता कि उसे समझूँ। दोनों तरफ़ का इस नासमझी में अन्दाज को खुल-खेलने का अवसर है, पर अन्दाज भी कुछ नये सवाल पैदा करके ही रह गया।

क्या यह कुत्ता इसलिए भौंकता है कि वह शान्ति के साथ बैठना चाहता है और लोग इधर से गुजरकर उसके अमन में खलल डालते हैं ? या आनेवालों से यह खतरा खाता है कि उसके मालिक के घर को लूट लेंगे और इसीलिए वह उन्हें भगाने को भौंकता है ? क्या उसकी निगाह में हर आदमी चोर है ? कुत्ता बराबर भौंके जा रहा है – भौं:, भौं:, भौं:, ! और मैं बराबर सोचे जा रहा हूँ क्यों, क्यों, क्यों ?

मित्र शिकंजवी ले आये, तो मैं पीने लगा। वे अपनी कहे जा रहे हैं इसलिए न दिमाग़ खाली है, न मुँह। सोचना बन्द हो गया है, पर आँखें

कुत्ते को देखे जा रही हैं। सोचने की शक्ति भी उन्हें ही मिल गयी, तो वे और पैनी हो गयी हैं।

एक आदमी तभी उधर से आया और कुत्ता भौंका — यों ही हलकी-सी गुर्राहट। आदमी तेज-तर्रार है। उसने कुत्ते को जोर से घूरा और कहा भी कुछ। कुत्ता अब तेज हो गया और पूरे जोर से भौंका। आदमी भी गरमा गया और उसने गालियों की एक तगड़ी बौछार फेंकी। कुत्ते की आवाज अब आसमान तक पहुँच गयी और वह कूदकर दहलीज से बाहर आ गया। यह आक्रमण की प्रस्तावना थी।

आदमी ने अब पास ही पड़ा, एक बड़ा-सा ढेला हाथ में उठा लिया। यह मोरचे पर जमने की स्वीकृति थी। इससे कुत्ता एकदम बौखला गया। अब कुत्ते का रूप देखने लायक़। ढेले से बचने को पटे के दायें से चौकन्ना, पर वार करने को बराबर तिरछी कन्नी काटे-काटे बढ़ता। गरदन फूली हुई, जीभ दाँत के बाहर लपलपाती, भौंक में पूरी ताक़त का भभकारा, पंजों से पृथ्वी को उधेड़ता-सा और दोनों तिरछी आँखों में अपने शत्रु का रोम-रोम साधे — यों कि उसका बस चले तो दुश्मन का कलेजा ही उधेड़ दे!

आदमी भी, पर खिलाड़ी है। बराबर अपनी राह बढ़ रहा है और कुत्ते की ओर से भी सावधान है, पर जितना वह बढ़ता है, उतना ही कुत्ता आगे आ जाता है। कुत्ते के पैरों में उचक मचमचा रही है, पर आदमी के सतर्क हाथ का ढेला उसे पनपने नहीं देता। आदमी ज्यों ही गालियों की बौछार छोड़ता है, कुत्ते की भौंक में भभक आ जाती है और आँखों में खून उतर आता है। दूसरी लड़ाई में गोयरिंग, जुकोव, रोमेल और मैकार्थर ने भी इतनी तल्लीनता से अपने किसी शत्रु का पीछा न किया होगा! मैं देख रहा हूँ और सोच रहा हूँ — यह पालतू और डरपोक कुत्ता अपने घर पर कैसा वीर हुआ जा रहा है?

"मियाँ, अपना रास्ता लो। खामखा कुत्ते के मुँह क्यों लगते हो?"

ऊपर छत से यह किसी ने पुकारा। ये महाशय शायद कुत्तापति थे।

मोड़ आ गया था और यह मोड़ ही शायद श्वानदेव के साम्राज्य की सीमा थी, इसलिए एक तगड़ी-सी झोंक देकर वे अपनी दहलीज़ में जा विराजे और आदमी भी ढेला फेंककर अपनी राह लगा, पर मैं तो वहीं था।

मैंने अपने में ही कहा : क्यों जी, भला खामखा क्यों ? भलामानस कहता है : कुत्ते के खामखा मुँह क्यों लगते हो ? अरे भाई, जब वह बिना कारण भौंकता है, तो राहगीर उसका प्रतिवाद भी न करे ? मालूम होता है यह कुत्ता इन्हें नहीं भौंकता !

अब मैं मित्र के साथ बातों में उलझ गया, पर भीतर मेरे जो विचार-धारा बहती रही, वह थी उस कुत्ते के ही इर्द-गिर्द। संक्षेप में शायद उसकी सूरत-मूरत यह थी कि कोई आदमी अपनी राह जाये, तो यह क्यों भौंके ? और क्यों उसे परेशान करे ? और करे ही, तो वह क्या उपाय है कि तुरन्त इसका मुँह बन्द कर दिया जाये ?

कुछ देर बाद उसी राह एक और सज्जन आये। घुटने तो इनके जवानों से भी बढ़कर थे, पर ये थे वृद्ध ही ! आहट सुनने में कुत्ता कभी चूकता नहीं और मालूम होता है थोड़ी देर पहले लड़ी कुश्ती का जोश भी अभी भूभल में दबा अंगारा था – वह पूरी तरह ठण्डा न हुआ था, इसलिए इस बार कुत्ते ने भीतर से ही चैलेन्ज नहीं किया, पहले ही वार में वह मोरचे पर आ गया – दहलीज के दरवाज़े पर; और गुर्राया। गुर्राहट बहुत हलकी, जैसे सिपाही ने तलवार के क़ब्ज़े की ओर अभी एक नज़र ही डाली हो, मूठ पर हाथ न रखा हो !

बूढ़ा क्या बहरा था ? उसने न कुत्ते की तरफ़ ज़रा झाँका, न ज़बान हिलायी, न चाल में ही उसकी फ़र्क़ पड़ा। वह सीधा अपनी राह चले चला। जैसे कुत्ता उसके लिए है ही नहीं। बूढ़ा उसकी सीध से निकल चला, तो उसने एक बार हलकी-सी ललकार दी : भौं: ! यह भौं: इतनी बे-उभार कि जैसे जलसे में कोई अकेला श्रोता बेमौक़े नारा लगा दे और अपनी बेवक़ूफ़ी पर खुद ही झेंप जाये ! अब वह खड़ा रहा

और बस बूढ़े को देखता रहा। जब बूढ़ा मोड़ पर आ गया, तो कुत्ते ने उधर देखा और एक बहुत हलकी भौं: की, गले ही गले में, ओठ जिसमें न हिलें बस जरा-सी नाक चिकुड़कर रह जाये। वह चुप हो रहा। मन ही मन जैसे कह रहा था: जा भाई बूढ़े, अब तुझे मैं क्या कहूँ और वह अपनी जगह जा बैठा।

मैंने सोचा, कुत्ता शायद थक गया है। तभी यह बूढ़े मियाँ से नहीं उलझा। मेरा प्रश्न अभी जमा न था कि दस-बारह साल का एक बालक उधर आ निकला। कुत्ते ने उसे देखा कि जोर से गुर्राया। वह गुर्राया कि लड़के ने अपनी चाल तेज की। लड़का जरा झपटा कि कुत्ते ने उसे पूरे जोर से एक झोंक दी: भौं: भौं: और कूदकर सड़क पर आ गया। अब लड़के के होश गुम! वह जोर से चिल्लाया और सिर पर पैर रख-कर भागा कि कुत्ते के पर लग आये। चार ही कुलाँच में उसने लड़के की दायीं पिण्डली जा पकड़ी। लड़का गिरा कि उधर से एक तरुण आ निकला।

तरुण ने पूरे जोर से अपनी छड़ी कुत्ते की कमर पर जड़ी। कुत्ता तड़ककर भागा और अपने दरवाजे पर जाकर टिका। तरुण लड़के को मोड़ तक पहुँचाकर लौटा, तो कुत्ता युद्ध के लिए तैयार। पूरे जोर की भौं: भौं: जिसमें क्रोध की किचकिचाहट और बदले का खूनी जोश, पर तरुण भी असावधान नहीं। वह छड़ी उठाये उसके पीछे चला। अब कुत्ता भौंकता जाता है और लौटता जाता है। वह दहलीज तक पहुँच गया, पर तरुण अभी बढ़ा ही आ रहा है। दूरी कम हो रही है, छड़ी ऊपर को उछलती है। उसके उठने का रस कुत्ता चख चुका है, इसलिए वह उछला और दहलीज के भीतर हो रहा।

अब स्थिति यह कि कुत्ता दहलीज के भीतर से भौंक रहा है और तरुण बाहर खड़ा उसे गालियाँ दे रहा है। कुत्ता जब भी दो पैर बढ़ा, बाहर को भौंकता है, तरुण धरती पर अपनी छड़ी फटकार देता है। कुत्ते की हुंकार पर आतंक की बौछार पड़ जाती है और वह भीतर हो

जाता है। कई मिनट युद्ध का यही रूप स्थिर रहा कि कुत्ते का भौंकना बन्द नहीं हुआ, पर वह बाहर आकर आक्रमण भी न कर सका। गालियों की एक तगड़ी बौछार फेंक, तरुण चला गया। कुत्ता तब भी भौंकता रहा।

मैं मित्र से बातें कर घर लौट आया और इस प्रकार यह कुत्ता-नाटक समाप्त हो गया, पर मैं इसके फलितार्थों पर विचार करता रहा। ये फलितार्थ इस प्रकार थे :

१. प्रतिवाद करने पर कुत्ते का भौंकना उग्र हो जाता है।

२. उधर ध्यान न देकर, उपेक्षा करने पर, कुत्ते का प्रतिवाद जन्म से पूर्व ही निस्तेज हो जाता है।

३. डरने—घबराकर भागने—पर कुत्ता शेर हो जाता है और उसका प्रतिवाद तो इससे उग्र होता ही है, वह काट भी लेता है।

४. यदि बलपूर्वक उसका प्रतिवाद किया जाये, तो वह मैदान छोड़कर आड़ ले लेता है, पर अपनी बकवाद जारी रखता है।

इसमें दो समझदारों में मतभेद नहीं हो सकता कि इनमें सर्वश्रेष्ठ मार्ग नम्बर दो का ही है—कुत्ते का प्रतिवाद न करना, उसकी तरफ़ ध्यान न देना, उसकी उपेक्षा करना, उसके सम्पर्क से दूर रहना।

और ज्यों ही यह परिणाम मेरे सामने आया, एक बीती घटना मेरी आँखों में घूम गयी।

मैं जब छोटा-सा बालक था, मेरे पिता ने एक मकान खरीदा। खरीदा क्या, मकान-मालिक ने थोड़े-से रुपये लेकर, उनसे प्रभावित होने के कारण, वह उन्हें दे दिया। हमारे कुटुम्ब के दूसरे धनी सदस्य अधिक रुपये लगाकर भी उसे न ले सके। धन के दर्प ने इसमें अपना घोर अपमान समझा और वह फुंकार उठा!

एक दिन प्रातः पिता जी भोजन के आसन पर बैठे ही थे कि अपने पाँच-छह बेटे-पोतों के साथ वे वहाँ आ धमके। लाठियाँ उनके हाथों में, क्रोध उनके हृदयों में और गालियों से भरे मुँह! आते ही उन्होंने गालियों

और धमकियों का एक दोंगड़ा-सा पिता जी पर बरसा दिया।

आज भी याद करता हूँ, तो मन शान्ति से भर जाता है। पिता जी ने बड़ी ही ठण्डी आँखों से उनकी तरफ़ देखा और सदा की भाँति उद्वेग-हीन स्वर में बोले : "आओ भाई, पहले खाना खा लो, फिर मार लेना।" गरम तवे पर ठण्डे पानी की ये बूँदें पड़ीं, तो वह छन्ना गया। शेर लोग और भी दहाड़े, तो वे बोले : "तुम बहुत हो, मैं अकेला हूँ। भागा मैं कहीं जा नहीं रहा। आओ पहले खाना खा लें।"

शेर लोग और भी जोर से दहाड़े, तो पिता जी ने गले की माला निकाली और 'नमः शिवाय' का जाप करने लगे। पाँच-सात मिनट में वे लोग बक-झककर चले गये। माँ ने नाराज होकर कुछ कहा, तो बोले : "मैं कुछ बोलता, तो और घण्टा-भर खराब करते और खाने का स्वाद मारा जाता। ऐसे लोगों से बावली, बात न करना ही कल्याणकारी है।"

आज सोचता हूँ, पिता जी ने कुत्ते की मनोवृत्ति को कितना स्पष्ट समझ लिया था! ये लोग जो गरज रहे थे, स्वरूप और भाषा में भले ही इनसान थे, स्वभाव में उस कुत्ते से कहाँ कम थे? समाज में हम क्या ऐसे मनुष्यों को नहीं देखते, जो दोपाये हैं, पर चौपायों से कहीं बढ़कर! उनका सही इलाज है, उनसे दूर रहना।

साहित्य-गोष्ठियों के सम्बन्ध में पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी कहा करते हैं कि इनमें समानशील साहित्यिकों को ही निमन्त्रित किया जाये, अन्यथा विरोध बढ़ता है और काम कुछ नहीं होता। मैंने विविधता के नाम पर उनका कई बार विरोध किया था, पर उनकी बात का ठीक-ठीक महत्त्व मैंने आज समझा।

कुत्तों की और मानव-समाज में विचरते उनके द्विपद प्रतिनिधियों की उपेक्षा करो, उनके सम्पर्क से दूर रहो, जीवन में शान्त रहने का यह मन्त्र आज मुझे सिद्ध हो गया।

भगवान् दत्तात्रेय के एक सौ आठ गुरुओं में कुत्ता भी था।

उससे भगवान् ने सीखा था सन्तोष; जितना मिले उतने में ही सन्तुष्ट रहो।

अपने से मैंने पूछा : तो दत्तात्रेय के गुरु से क्या मैंने इससे भी बड़ी बात आज नहीं सीखी ?

□

जीवन : एक ताना-बाना

"क्यों जी, आपने कभी सोचा है कि आपमें कितनी सहकार-भावना है ?"

"जी, हमने यह तो नहीं सोचा कि हममें कितनी सहकार-भावना है, पर यह जरूर सोचा है कि आप क्यों बार-बार हमसे ऐसे फ़ालतू प्रश्न पूछते रहते हैं !"

"तो मेरा यह प्रश्न आपकी राय में फ़ालतू है ?"

"जी, फ़ालतू नहीं तो क्या काम का है ? आज हम यह सोचें कि हममें कितनी सहकार-भावना है, कल यह कि हममें कितनी असहकार-भावना है, परसों यह कि हममें लड़ाई की कितनी भावना है और परले दिन यह कि हममें लड़ाई से भागने की कितनी भावना है ? बस पण्डित जी, फिर तो हम कर चुके काम; और यह भी ठीक है कि फिर काम करके करेंगे भी क्या ? पाँच-सात साल में हममें क्या है और क्या नहीं है, यही सोचते-सोचते एक पूरा भावना-कोश तैयार हो जायेगा और बस उसे छपाकर बेच खायेंगे।"

"तो आप मेरे प्रश्न को यों हँसी में उड़ा रहे हैं, पर यह कोई गैस का गुब्बारा नहीं है कि नन्हें के हाथ से धागा छूटा और वह उड़ गया। खैर, यह गुब्बारा हो या हिमालय का शिखर, यह बात है कि आपने इस प्रश्न पर कभी नहीं सोचा और इसलिए मेरा यह कहना है कि आप बन्दर हैं।"

"बन्दर ! हम बन्दर हैं या कि बन्दर के छोटे भाई ? तो पण्डित जी, अब हमें आप हमारे मुँह पर ही गालियाँ देने लगे। सच बताइए, आपका आज इरादा क्या है ?"

"अरे भाई, आप तो एकदम से भड़क गये, जैसे आतिशबाजी का अनार

हो। गाली मैं तुम्हें क्यों देता भला, यह तो एक सत्य है, पर भाई, सत्य यह है कि कोरा सत्य कभी-कभी गाली से भी पैना होता है।"

"तो यह एक सत्य है कि हम बन्दर हैं ? सचमुच आज तो आप लड़ने के लिए ही आये दीखते हैं।"

"ओह, किस क़दर जल्दबाज़ हैं आप कि पूरी तरह बात नहीं सुनते और बीच में टपक पड़ते हैं। मेरा मतलब यह है कि बन्दर का यह स्वभाव है कि वह अपने बारे में कभी कुछ नहीं सोचता। अंगद से जब राम का दूत बनकर लंका में जाने को कहा गया, तो वह सकुचाया, क्योंकि उसने अपनी शक्ति और योग्यता के बारे में कभी कुछ सोचा ही न था। बाद में जब उसे याद दिलाया गया, तो वह तैयार हो गया और आप तो जानते ही हैं कि लंका में जाकर फिर तो उसने वो काम किये कि आज भी इतिहास उसके गुण गाता है।"

"हूँ, तो यह मतलब है आपका कि जो अपने जीवन के प्रश्नों पर विचार नहीं करता, वह बन्दर है। लो, मान ली हमनें आपकी यह बात, पर अब एक प्रश्न हमारा भी है।"

"हाँ, हाँ, पूछो भी अपना प्रश्न !"

"पण्डित जी, इन प्रश्नों पर बड़ी उम्र में ही विचार करना चाहिए, पर खैर छोड़ो इस बात को और यह बताओ कि आपने इस प्रश्न पर सबसे पहले कब विचार किया था कि आपमें कितनी सहकार-भावना—मिल-जुलकर काम करने की चाह—है ?"

"वाह भाई वाह, कैसा फ़िट सवाल पूछा है आपने भी। बस समझ लो कि आपकी-हमारी बात-चीत अब जम गयी। मैं यह तो बताऊँगा ही कि पहले-पहल मैंने कब सोचा था यह प्रश्न, पर यह भी बताऊँगा कि इस मामले में मेरे गुरु थे दो बकरे और बीस-तीस बन्दर !

"अरे, हँस रहे हैं आप। ठीक भी है हँसना। आप सोच रहे हैं कि यह तो सुना था कि पण्डित के पढ़ाये पाधा, पाधा के पढ़ाये पघोकड़े और पघोकड़ों के पढ़ाये आलमाल होते हैं, पर आज आपके सामने बकरे और

बन्दरों से ज्ञान पाया, एक पण्डित विराजमान है। है न यही बात, पर लो, अब भूमिका तो बहुत हो ली, कुछ काम की बात सुनो।

जब मैं छोटा-सा बालक ही था, तो स्कूल की किसी पुस्तक में मैंने एक कहानी पढ़ी कि दो पास-पास खड़े पहाड़ों के बीच से एक नदी बहती थी। उसपर आर-पार जाने के लिए गाँववालों ने लकड़ी का एक लट्ठा रख रखा था। एक दिन एक ही समय में उसपर एक बकरा इधर से चला, एक उधर से। लट्ठे के बीच में पहुँचे, तो दोनों आमने-सामने, न मुड़ने की जगह, न बचने की गुंजाइश। करें तो क्या करें? मौत दोनों के सामने, पर थे दोनों समझदार और समझदार क्या दोनों में सहकार-भावना थी। सलाह करके दोनों में एक वहीं लट्ठे पर बैठ गया और दूसरा उसके ऊपर से धीरे-धीरे उतर गया। बाद में वह भी उठकर अपनी राह लगा और यों दोनों मौत से बच गये।

मुझपर इस कहानी का बड़ा असर पड़ा। मैं सोचने लगा कि दोनों बकरे आपस में बहस करने लगते, तो भूखे-प्यासे थककर नदी में जा गिरते। आपस के मेल-जोल से कितने काम निकल सकते हैं।

मैं इस कहानी को भूल भी जाता, पर उन्हीं दिनों वह बन्दरों की घटना हो गयी, जिसका मैं अभी आपसे ज़िक्र कर रहा था और जिस पर आप मेरी अभी-अभी हँसी उड़ा रहे थे।"

"हाँ, वह बन्दरों की घटना सुनाइए पण्डित जी!"

"ओहो, फिर वही जल्दबाजी। अरे भाई, सुना तो रहा हूँ बन्दरों की घटना। जिस पाठशाला में मैं पढ़ता था, उसके सामने ही था बूढ़े महादेव का मन्दिर। मैं एक दिन दोपहर को मन्दिर में गया, तो क्या देखता हूँ कि एक काला साँप शिव जी को लिपटा हुआ है और अपना भयंकर फन उसने शिव जी के ऊपर फैला रखा है। मैं देखकर उलटे पाँव लौट आया, पर मेरे बाहर निकलते ही एक बन्दर मन्दिर में घुसा। बात यह है कि बूढ़े महादेव के असली पुजारी ये बन्दर ही हैं और भक्त लोग चावल, मिठाई, फल आदि जो चढ़ाते हैं, वह इन्हीं के हिस्से में आते हैं।

मैं दूर से देखने लगा कि देखें हनुमान् और शेषनाग के वंशधरों में कैसी पटती है। बन्दर झपाटे के साथ बढ़ा चला गया और जब उसने फल-फूल की तरफ़ हाथ बढ़ाया, तो उसे साँप दिखाई दिया। पीछे हटने का मौक़ा ही न था; क्योंकि साँप वार कर चुका था। बन्दर ने कमाल किया कि फुर्ती से साँप का फन अपने पंजे में इस तरह दबोच लिया कि काटने के लिए वह मुंह ही न खोल सके।

मैंने अपने मन में कहा : कहो शेषनाग के पुत्र, सुरसा के वधकर्ता हनुमान् के पौत्र का पैंतरा कैसा रहा ?

मन ही मन शेषनाग के पुत्र ने कहा : ले तो मेरा भी पैंतरा देख और वह शिव जी की लिपटन को छोड़ एक सपाटे में बन्दर के पेट और छाती पर लिपट गया। अब हनुमान् का पौत्र बड़े संकट में, जैसे शिकंजे में कभी किताब, पर भाई, मैं उसके धीरज की प्रशंसा करूँगा। फिर भी उसने अपनी उँगलियाँ ढीली नहीं कीं और शेषनाग के पुत्र को कसे ही कसे अपने दो पैरों के बल ठुमकता-ठुमकता और पुकार मचाता मन्दिर से बाहर चला आया।

उसकी चिल्लाहट सुन बीस-तीस बन्दर इकट्ठे हो गये। अब मैं देख रहा हूँ कि वे बन्दर अपने साथी के चारों ओर घूम रहे हैं, मदद करने को बेचैन हैं, पर उन्हें सूझ नहीं पा रहा कि कैसे क्या करें। तभी कहीं से आ गया उनका मोटा चौधरी। जो समय पर संकट से समाज की रक्षा न कर सके, वह चौधरी क्या ? चौधरी ने आते ही वह पैंतरा चला कि शेषनाग के पुत्र का ब्रह्मास्त्र कट गया। चौधरी ने साँप की पूँछ पकड़ ली और वह उस बन्दर के चारों ओर को घूम गया। अब हालत यह कि साँप का मुंह तो दबा हुआ उस बन्दर के हाथ में और पूँछ चौधरी के हाथ में। आपस में सबने कीं-कीं की और बस इसके बाद जो कुछ हुआ वह एक चमत्कार है।

बन्दर पीपल की छोटी-छोटी टहनियाँ उठा लाये और बीच-बीच में से साँप को रगड़ने लगे। पाँच-सात मिनट में साँप के तीन-चार टुकड़े

हो गये और मुंह का छोटा-सा टुकड़ा उस बन्दर के हाथ में रह गया। उसने उसे बहुत गौर से देखा और उँगलियां जरा ढीली कीं, पर सांप के उस टुकड़े में अब भी दम था। उसने जरा-सी जीभ लपलपायी। बन्दर ने झट अपना पंजा फिर कस लिया और कुछ देर बाद उस टुकड़े को धरती पर इस तरह घिसना शुरू किया कि जैसे लौकी को कद्दूकस पर कसा जाता है। वह उसे थोड़ा-सा घिसता और देखता और फिर घिसता। बस यों ही घिसते-घिसते उसने शेषनाग के पुत्र का पूरी तरह भुरता कर दिया और एक भयंकर संकट से बच गया।

यह घटना मैंने अपनी आँखों देखी और अपने से पूछा कि यदि यही संकट हमारे किसी विद्यार्थी पर आया होता, तो क्या हम उसे इतनी ही आसानी से टाल सकते? मेरे मन ने इसपर हाँ नहीं की और तब मेरे मन में यह दूसरा प्रश्न उठा कि क्या हम मनुष्यों में बन्दरों-जितनी सहकार-भावना भी नहीं है?

बस तब से मेरी यह आदत बन गयी कि मैं अपने से और अपनों से बराबर यह प्रश्न पूछता रहता हूँ कि आपमें कितनी सहकार-भावना है, पर आप उसे एक फ़ालतू सवाल ही बता रहे हैं।

सचाई यह है कि यदि मेरा यह प्रश्न फ़ालतू है, तो हमारा यह जीवन कुछ नहीं है, क्यों सहकार के सिवाय हमारा जीवन और है ही क्या? मेरी तरफ़ मुंह बाये भोंचा-से क्या देख रहे हैं? ठीक तो कह रहा हूँ कि सहकार के सिवाय यह जीवन और है ही क्या? लो सुनो, आपको पुराने सन्तों की सुनायी एक कहानी सुनाता हूँ।

एक बार शरीर के अंगों में लड़ाई हो गयी। इसका आरम्भ पैरों ने किया। वे बोले: लड्डू लाना हो या पेड़ा, कचौरी लानी हो या आलू की टिकिया, हमें ही दौड़ना पड़ता है, पर चीज लेते ही हाथ उसे थाम लेते हैं, मुंह चट कर जाता है, आँखें देखती हैं, पेट खा जाता है, नाक सूंघती है, हमें क्या मिलता है — हम क्यों बेगार करें! आज से हम नहीं चलेंगे, जो खाते हैं, लेते हैं, वे ही जायें, वे ही दौड़ें।

बस पैरों की देखा-देखी औरों को भी सूझी। हाथों ने कहा : तुम चलकर जाते हो तो क्या, ढोकर तो हमीं लाते हैं, पर हमें क्या मिलता है, यह अकेला मुँह सब कुछ चट कर जाता है। उन्होंने भी अपना काम छोड़ दिया और इस तरह एक के बाद एक सभी ने छुट्टी की, पर पेट खाली रहा तो शाम को ही सब पर सुस्ती की छाया पड़ी। दूसरे दिन बेचैनी हुई और तीसरे दिन तो सबके सब दम ही तोड़ने लगे।

हँसकर पेट ने कहा : क्यों भाई, कुछ आया मज़ा ? तुम समझते थे कि सब कुछ मैं अकेला ही अपने थैले में रख लेता हूँ। अरे भोले भाइयो, यह तो सहकार की बात है। तुम सब अपना काम करके मुझ तक कुछ पहुँचाते हो और मैं अपना काम करके तुम तक कुछ पहुँचाता हूँ और यों हम सब एक-दूसरे को जीवित रखते हैं।

इसी का नाम सहकार-भावना है। अंगों ने समझा और उठकर अपने-अपने काम में लगे। बस जो हाल शरीर का है, वही समाज का है। यहाँ भी सब अपना-अपना काम करते हैं, तो समाज ठीक चलता है। नहीं तो समाज के संगठन में शिथिलता आ जाती है। अब यह बात साफ़ है कि जिसमें सहकार-भावना नहीं है, वह समाज का शत्रु है और उसे समाज से जीवनशक्ति ग्रहण करने का कोई अधिकार नहीं है।"

"अच्छा, इस सहकार-भावना का मनोवैज्ञानिक स्वरूप क्या है ?"

"असल में अब आये हैं आप ताल पर। मैं बहुत खुश हूँ कि अब आप बातचीत में गहरे उतर रहे हैं।

लो सुनो, सहकार-भावना का मनोवैज्ञानिक स्वरूप यह है कि एक आवाज़ उठी कि यह काम है और तुरन्त दूसरी आवाज़ आयी कि लो, मैं भी आ गया।

रुक गये, नहीं आया समझ में कि यह क्या कह गया मैं। लो, मैं एक और कोशिश करता हूँ।

काम और मसले ज़िन्दगी में आते ही रहते हैं। वे आयें और बिना हुए पड़े रहें, यह बीमारी की निशानी है। बीमारी मनुष्य की और

बीमारी समाज की भी। स्वास्थ्य की निशानी यह है कि कोई काम सामने आया कि एक आवाज़ उठी : आओ करें; इस आवाज़ का अकेला रह जाना भी बीमारी की निशानी है। इस आवाज़ के साथ ही बहुत-से कण्ठों की यह आवाज़ आये : लो हम भी आ गये, तो इसका अर्थ हुआ कि यहाँ अब कोई काम अधूरा नहीं रह सकता।"

"अच्छा, यह पहली आवाज किसकी हो ?"

"शाबाश ! यह पूछा है आपने एक लाख रुपये का प्रश्न। सच यह है कि बातचीत ऐसे ही प्रश्नों से जमती है। जमती भी है और खिलती भी है।

पहली आवाज उसकी हो, जो उस काम को पहले देखे या समझे कि यह काम है, जो होना चाहिए। जो पहली आवाज लगाये, वही नेता। बाद में यह कहनेवाले तो हो ही जाते हैं कि लो, हम भी आ गये।"

"और क्यों जी, अगर पहली आवाज सुनकर कोई पीछे न आये ?"

"ठीक है यह आशंका, पर इसका उत्तर बड़ा सरल है। जिसने पहली आवाज़ लगायी है, वही पहला हाथ और पहला क़दम भी उठाये। मतलब यह कि वही उस काम को आरम्भ कर दे और करता चले।

उत्तर प्रदेश के एक जिले में एक पुराना तालाब फिर से खुदना था। कई गाँव के किसानों के लिए यह जीवन-मरण का प्रश्न था, पर कोई उधर ध्यान नहीं दे रहा था। बाबा राघवदास ने इसे अनुभव किया और एक फावड़ा और एक टोकरी लेकर वे उसे खोदने लगे। एक आदमी और कई बीघे का तालाब ! चिड़िया का समुद्र शोषण है, पर उस सन्त ने इधर ध्यान नहीं दिया और प्रातःकाल दो-तीन घण्टे रोज़ वे अपना काम करते रहे। बस तीन दिन में ही यह बात गाँव-गाँव में फैल गयी और हज़ारों फावड़े, हज़ारों टोकरियाँ और इससे भी बढ़कर हज़ारों हृदय आ जुटे और देखते-देखते तालाब खुद गया। हमारे देहातों में एक भाव-पूर्ण कहावत है जो देखे सो पूरे। मतलब यह कि दीपक को जो बुझता

देखे, वही उसकी बत्ती को ठीक कर दे और तेल डाल दे, किसी की प्रतीक्षा न करे और न किसी पर हुक्म ही चलाये। अरे भाई, दीपक सबका है, जो देखे सो पूरे। इसमें और किसी बात की गुंजाइश ही कहाँ है ?

इसमें एक शर्त भी है कि जो महसूस करे, औरों को पुकारे और पहला हाथ खुद बढ़ाये, उसका हृदय और भावना शुद्ध हो, क्योंकि ऐसा न हो तो उसका बढ़ा हुआ हाथ कार्य का निर्माण नहीं, नाश ही करेगा।"

"यह क्यों ?"

"इसमें क्यों कुछ नहीं, यह तो एक जीवन का सत्य है और यह सत्य पूरी तरह से एक लोक-कथा में लिखा हुआ है। एक यज्ञ में दूध की आवश्यकता थी। राजा ने आज्ञा दी कि हर एक आदमी कल ब्रह्मवेला में उपवन की हौज़ में एक-एक लोटा दूध डाल जाये, पर जो आदमी सबसे पहले दूध डाल गया, उसने सोचा—और सब तो दूध डालेंगे ही, मैं पानी का ही लोटा डाल दूँ, तो कौन पहचानेगा ? वह पानी का लोटा डाल आया। राजा ने जब प्रातः उठकर देखा, तो सारा हौज़ पानी से भरा था, क्योंकि नगर के सभी आदमी एक-एक लोटा पानी डाल गये थे; यही सोचकर कि और तो सब दूध डालेंगे ही। अन्त में राजा ने पता लगाते-लगाते उस आदमी को पकड़ लिया, जो सबसे पहले पानी डाल गया था और उसे फाँसी दे दी। राजा के वज़ीरों ने पूछा : यह काम तो सभी ने किया है। राजा ने कहा : उस पाप-भावना की लीक इसी ने बनायी, जिस पर बाद में सब लोग चलकर पतित हुए, इसलिए यही मुख्य पापी है।"

इस लोकगाथा में 'भावना की लीक' यह बहुत महत्त्व का शब्द है। यदि कोई तिरछी दागबेल डाल दे, तो सड़क तिरछी हो ही जायेगी। जो पहले आगे बढ़े, उसका काम है कि अपने को शुद्ध और सावधान रखे।

सहकार-भावना असल में जीवन की एक कसौटी है। लो, फिर आपको ही इस कसौटी पर कसता हूँ। जब आपका कोई साथी भूल से

रपट जाता है तो आप क्या करते हैं ? हँस पड़ते हैं, तो आप भी उस बादशाह के एक खानदानी हैं, जो शहर जलते देखकर बंशी बजाया करता था। खड़े रहते हैं, तो अपाहिज, ध्यान ही नहीं देते, तो मिट्टी के लौंदे, घेरकर खड़े हो जाते हैं, तो पशु और बढ़कर उसे मदद देते हैं, तो मनुष्य !

अच्छा मान लो, आपकी बहन, माँ या पत्नी अभी खाना बनाकर उठी है और गरमी में पसीने से तर आपके लिए थाली परोसकर ला रही है। थाली रखकर वह पानी लायेगी और फिर पंखा, तो क्या तब तक आप बैठे-बैठे देखते ही रहेंगे ? हाँ, तो आप निश्चय ही पशु हैं और यदि उठकर पानी और पंखा खुद ले आयें, तो मनुष्य।

सहकार कोई एहसान नहीं है। यह असल में जिन्दगी का ताना-बाना है। ताना बाने से टिका है, बाना ताने से। दोनों का सहकार टूट जाये, तो दोनों सूत रह जायेंगे। लो, चलते-चलते आपको एक गहरी बात बताऊँ। सहकार प्रजातन्त्र है और असहकार फ़ासिज़्म। पहले का अर्थ है—मैं ही सब कुछ नहीं हूँ और दूसरे का स्वरूप है—मुझे किसी की जरूरत नहीं !

□

जब वे रौबो को कमरे में ले गये !

पण्डित आशारामजी एक संस्कारी पुरुष थे। देखने में ही राजा नहीं, वे मन के भी राजा थे। देवबन्द के तो वे सबसे बड़े आदमी थे ही, अपने सारे प्रदेश में भी उनकी धाक थी। वे सबको प्यार करते थे, सब पर उनका रोब पड़ता था। यों कहना काफ़ी होगा कि पुरानी पीढ़ी की सब खूबियाँ उनमें थीं।

शाम को उनका घर राज-दरबार हो जाता। इस दरबार में बूढ़े भी होते, बालक भी, दर्दी भी, ग़रज़ी भी! मैं भी अकसर उनके यहाँ जाता। वे अपने बालकों की तरह ही हम सबको भी लाड़ करते। जिन दिनों की बात मैं कह रहा हूँ, एक ईसाई नवयुवक भी उनके यहाँ आया करता था। उसे हम सब रौबी कहा करते—पता नहीं यह उसके किस नाम का संक्षेप था। वह कहीं बाहर पढ़ता था और छुट्टियों में ही वहाँ रहता था। पण्डित जी उसे भी हमारी ही तरह मानते और खिलाते-पिलाते। वे बहुत ही प्रेमी स्वभाव के मनुष्य थे।

एक दिन शाम को बैठे थे, गपशप हो रही थी कि रौबी आया। उसके हाथ में एक छोटा-सा फूलों का गुच्छा था—निश्चय ही वह पण्डित जी के बाग़ से तोड़ लाया होगा। जाने रौबी को क्या सूझी कि वह सीधा पण्डित जी की कुरसी तक पहुँच गया और शोखी के साथ गुलदस्ता उनकी ओर बढ़ाकर बोला : "लीजिए, यह आपको इनाम देता हूँ।"

पण्डित जी ने तेजी से रौबी की तरफ़ देखा और मैंने पण्डित जी की तरफ़। ग़ुस्से से उनका प्रभावशाली चेहरा तमतमा रहा था। मैं पण्डित जी का स्वभाव जानता था। मैंने मान लिया कि अब रौबी पर चमड़े का

हुण्टर बरसेगा, पर जाने कैसे पण्डित जी ने अपने को सँभाल लिया और उठकर पास के कमरे में चले गये। वहीं से गुर्राये : "रौबी, यहाँ आ !"

मैंने सोचा : शायद मरम्मत की मुनासिब जगह भीतर समझी गयी है। रौबी भीतर चला गया, पर न तो हुण्टर की सपसपाहट सुनाई दी, न थप्पड़-घूँसों की धमकधम और दस मिनट में दोनों बाहर चले आये। ग़ौर से देखा : पण्डित जी शान्त थे और रौबी गम्भीर। कुछ समझ में न आया कि भीतर क्या हुआ ?

मैं बैठा रहा। रात में दस बजे जब भीड़ छँट गयी, तो मैंने धीरे से पूछा : "पण्डित जी, आपने भीतर ले जाकर रौबी को क्या कहा था ?"

बोले : "बदमाश मुझे इनाम दे रहा था। आज उसे हुण्टरों से रँगता, पर मुझे उसके बूढ़े बाप का ख़याल आ गया बेटा !"

मैंने कहा : "जी हाँ, यह तो ठीक है, पर आपने उसे भीतर ले जाकर क्या कहा था ?"

बोले : "मैंने उससे कहा कि तुम अभी बालक हो। बड़े आदमियों में बैठते हो, तो बड़ी बात सीखो और याद रखो कि किसी तरह भी मर्यादा में जो तुमसे बड़े हैं, वे तुम्हारे साथ समानता का व्यवहार करते हैं, तो उसे उनकी कृपा समझो, अपना अधिकार नहीं।"

मैं उनके पैर छूकर चला आया। चलते-चलते मैंने मन में सोचा : रौबी घाटे में रहा हो या लाभ में, मुझे तो जीवन का एक बहुत क़ीमती मोती आज मिल ही गया : "किसी तरह भी मर्यादा में जो तुमसे बड़े हैं, वे तुम्हारे साथ समानता का व्यवहार करते हैं, तो उसे उनकी कृपा समझो, अपना अधिकार नहीं !"

कृपा सिर झुकाकर, नम्र भाव से, कृतज्ञता के साथ, स्वीकार की जाती है और अधिकार का हम मनमाना उपयोग कर सकते हैं। कृपा वह है, जो हमें किसी से प्राप्त हो, अधिकार वह जो हमारा अपना हो। जो हमें किसी से प्राप्त है, वह सँवारकर रखने और सँभालकर ख़र्च करने की चीज़ है और जो हमारा है, उसे हम चाहे जैसे रखें, जैसे बरतें—हाँ,

उपयोग दुरुपयोग न हो जाये, यह सावधानी तो रखनी ही पड़ेगी। यों पाबन्दी दोनों में है, पर पहले में वह नैतिक है, दूसरे में वैधानिक है। उचित पाबन्दी को निभाकर चलना उतना ही कल्याणकारी है, जितना अनुचित पाबन्दी को तोड़कर चलना और यों मर्यादा और विद्रोह जीवन-सरिता के दो स्थायी तट हैं। कब हम इस तट, कब हम उस तट, इस प्रश्न में कब का, अवसर का, ज्ञान ही हमारी कसौटी है। हम मर्यादा को तोड़ते हैं, तो उच्छृंखल हो जाते हैं और बन्धन को तोड़ते हैं, तो विद्रोही। उच्छृंखल दण्ड का और विद्रोही वन्दना का अधिकारी है।

बैंक में मेरे एक मित्र का पुत्र काम करता है। मैं एक दिन बैंक गया, तो उसने कहा : 'नया जीवन' मुझे बहुत अच्छा लगता है, पर पढ़ने को नहीं मिलता। मैंने उसे बिना मूल्य 'नया जीवन' ले लेने को कह दिया। तीन-चार दिन बाद मैं फिर बैंक गया, तो उसे देखकर मुझे उसकी बात याद हो आयी। 'नया जीवन' की प्रति मेरे बैग में थी, मैंने उसे दे दी। इसके दूसरे मास वह मुझे मार्ग में मिला और माँगकर उसने मुझसे 'नया जीवन' ले लिया।

तीन-चार महीने बाद मैं एक दिन फिर बैंक गया, तो वह बोला : "आपने कई महीने से हमें 'नया जीवन' ही नहीं दिया!" उसके चेहरे पर रोष था, वाणी में तीखापन और मुद्राओं में शिकायत। सब मिलाकर एक ऐसा भाव कि जैसे मैं उसका जेवर मँगनी लाया था, पर वह मैंने लौटाया नहीं और वह उस अभद्रता के लिए मेरी भर्त्सना कर रहा है।

मैंने उसे जरा ध्यान से देखा कि मुझे पण्डित जी कि वह सीख याद हो आयी : "किसी तरह भी मर्यादा में जो तुमसे बड़े हैं, वे तुम्हारे साथ समानता का व्यवहार करें, तो इसे उनकी कृपा समझो, अपना अधिकार नहीं।"

मेरे मित्र हैं श्री महावीर त्यागी। मानव की समानता के हामी और बहुत ही प्रेमी। उन्होंने घरेलू काम के लिए एक नौकर रखा। समय की बात, पहले ही दिन उसे बुखार चढ़ आया। त्यागी जी ने उसे दूसरे दिन

सुबह नहीं उठाया, स्वयं उठकर चाय बनायी और एक गिलास उसे दिया। बाद में उठकर उसने थोड़ा-बहुत काम किया। दो-तीन दिन जब तक उसकी तबीयत खराब रही, यही सिलसिला रहा। चौथे दिन सुबह त्यागी जी लेटे रहे; क्योंकि उनका नौकर अब स्वस्थ था और उन्हें आशा थी कि आज वही उठकर चाय बनायेगा, पर वे उसके उठने की बाट जोह ही रहे थे कि उनके कानों ने सुना : "बाबू जी, आज चाय नहीं बनाते !" त्यागी जी ने उठकर देखा : अपनी बुक्कल में मुँह छिपाये, उनका नौकर उन्हें उनके कर्तव्य की याद दिला रहा है। वही बात, वह उनकी कृपा को अपना अधिकार मान बैठा !

यह बेवक़ूफ़ी भी है, बदमाशी भी, पर दोनों ही दशाओं में इसकी समान प्रतिक्रिया है यह कि मनुष्य अपनी उदार भावना पर ब्रेक लगाने की आदत डालने लगता है और इसका अर्थ यह हुआ कि हम कृपा को मूर्खता से अधिकार मानें या धूर्तता से, दोनों हालतों में उससे समाज की उदारता का कुछ न कुछ अंश कम करते हैं।

हज़रत उमर खलीफ़ा की गद्दी पर थे। यों कहने को ही वे खलीफ़ा थे, असल में बादशाह थे—हज़रत पैग़म्बर मुहम्मद के पूरे प्रतिनिधि। पड़ोस के किसी बादशाह से उनकी लड़ाई चल रही थी—फ़ैसले की बातचीत के लिए उन्हें बुलावा आया, तो अपने ऊँट पर चढ़ चले।

वे ऊँट पर सवार और उनका ग़ुलाम नकेल पकड़े आगे। चार कोस गये कि उनके हुक्म से ऊँट रुका। वे नीचे उतरे और ग़ुलाम के हाथ से नकेल लेकर बोले : "अब तू बैठ जा ऊपर, मैं नकेल लेकर चलूँगा !" ग़ुलाम भक कि मुझसे क्या खता हुई, जिसकी यह सजा है !

उसने भरे गले से कहा : "मेरे आक़ा, मेरे पीर, मेरे मालिक, मुझे माफ़ करो !"

हज़रत ने उसका कन्धा प्यार से थपथपाकर कहा : "बैठ जाओ ऊपर, अब थोड़ी दूर मैं पैदल चलूँगा, आखिर तुम भी तो उसी खुदा के बन्दे हो।"

मालिक का हुक्म, गुलाम ऊँट की पीठ पर और दुनिया-भर के मुसलमानों का खलीफ़ा नकेल थामे आगे-आगे। यों ही उतरते-चढ़ते खलीफ़ा उस बादशाह की राजधानी में पहुँचे और क़िस्मत का करिश्मा कि राजधानी में पहुँचे, तो नकेल खलीफ़ा के हाथ में और गुलाम ऊँट की पीठ पर !

बादशाह के वजीर-वुज़रा गुलाम को सलाम करने लगे, तो घिघियाकर उस बेचारे ने कहा : "अरे, मैं तो गुलाम हूँ, हज़रत खलीफ़ा तो वे हैं, जो नकेल थामे है !"

विरोधी बादशाह ने सुना, तो वह सुन्न हो गया—जो अपने गुलाम के साथ ऐसा व्यवहार करता है, उससे लड़कर कौन जीत सकता है और उसने बिना शर्त अपने को हज़रत उमर के क़दमों में सौंप दिया।

गुलाम के साथ मालिक की यह कृपा है, पर कल वह इसे अपना अधिकार मान ले और किसी दिन आगे चलते-चलते ऊँट थामकर खलीफ़ा से कहे : "जरा नीचे आइए, मैं थक गया हूँ और लीजिए, यह नकेल थामिए, मैं ऊपर बैठ रहा हूँ।" तो खलीफ़ा की उदारता भले ही समुद्र-सी गहरी और हिमालय-सी ऊँची हो, वह उसी क्षण कृपण हो उठेगी और दूसरे ही दिन हम उनके व्यवहार में एक ऐसा अन्तर पायेंगे, जिसे पचाना हमारे लिए सुगम न होगा।

आवश्यकता है कि हम दूसरे की ढील देखकर अपने को ढील न दें, क्योंकि ढील भी मशीन के एक पुरज़े की तरह है, जो अपनी ही जगह फ़िट होकर काम देता है, हर जगह नहीं और यह बात तो हर पतंगबाज़ जानता है कि छोटी पतंग बेमौक़े ढील देने पर पेटा खा जाती है।

अपने एक कार्यकर्ता मित्र को मैं अपने राज्य के एक मन्त्री से मिलाने ले गया। मैं उनकी मूक साधना का वर्णन माननीय मन्त्री से कर चुका था। हम दोनों के बड़े कमरे में घुसते ही उन्होंने मेरे मित्र को अपने पास बुलाया। मेरे मित्र ने दरवाज़े पर ही जूता निकाल दिया। मैंने कहा : इसकी ज़रूरत नहीं, तो गम्भीरता से बोले : मुझे अपने जूते की क़ीमत मालूम है।

जब-जब किसी को किसी बड़े की उदारता का दुरुपयोग करते देखता हूँ, इन मित्र की याद आ जाती है और इसके साथ ही याद आ जाते हैं वे ब्रह्मचारी जी जो बहुत बड़े शाक्त बना करते थे। एक राजा साहब से मैंने उनका परिचय करा दिया। राजा साहब शाम को थोड़ी-सी पी लिया करते थे और ब्रह्मचारी जी के लिए तो बोतल कर्मकाण्ड ही थी।

एक दिन हम दोनों शाम के समय राजा साहब के यहाँ जा निकले। राजा साहब ने गिलास ब्रह्मचारी जी के सामने किया कि मेरे इशारा करते भी उन्होंने हाथ बढ़ाया और जाने कितने टन-टूमन करने के बाद पहली घूँट भरी। मैंने देखा : ब्रह्मचारी जी ने पहली घूँट में जो सुस्ती बरती थी, बाद में गिलास पर गिलास उँड़लने में उतनी ही चुस्ती बरती।

पेट भरा, तो दिमाग़ खिला। अब वे काली माई के पास थे और राजा साहब का नाम लेकर तू-तेरा में बोल रहे थे। मुझे यह बुरा लगा, पर राजा साहब 'हाँ महाराज' ही कहते रहे। दूसरे दिन से ब्रह्मचारी जी राजा साहब का नाम लेकर पुकारना अपना अधिकार मानने लगे।

एक दिन ब्रह्मचारी जी मिले, तो मुँह सूजा हुआ था। बोले : जोड़ में कई दिन से दर्द है, पर शाम को राजा साहब मिले, तो बोले : "भैया, कल हमने ब्रह्मचारी जी की काली उतार दी। कल वह आया, तो कई दोस्त बैठे थे। लगा नाम लेकर पुकारने और तू-ताम बाँधने। हमने बाहर बरामदे में बुलाकर जबड़े पर एक घूँसा दिया और बाहर की राह दिखा दी।"

अब तीन प्रयोग हमारे सामने हैं। पहला हमारे कार्यकर्ता मित्र का, जो कभी अपने जूते की क़ीमत नहीं भूलते। दूसरा पण्डित जी का, जो भूलनेवाले को इशारा दे देते हैं और तीसरा राजा साहब का, जो भूलने-वाले को भूलना भुला देते हैं, पर एक चौथा प्रयोग भी है, जो हमारे लोक-जीवन में चिरलिखा सुरक्षित है।

साँप एक दिन ऋषि के पास जा बैठा। ऋषि ने उसे अहिंसा का उपदेश दिया। साँप ने व्रत ले लिया कि अब वह किसी को न काटेगा।

ऋषि अपनी यात्रा पर चले गये और साँप के व्रत की बात सबको मालूम हो गयी। लड़के उसे उठा लेते और घण्टों तोड़ते-मरोड़ते। एक दिन एक ग्वाले ने उसे अपनी गाय के सींगों में बाँध दिया और दिन-भर गाय झाड़ियों में सींग मारती रही—बेचारा लहूलुहान होकर बड़ी मुश्किल से शाम को छूटा, पर दूसरे दिन लड़कों ने उसे फिर खींच लिया और उसके मुँह में रेत भर दिया।

लड़के उसकी आँखों में सींक देकर उसे अन्धा करनेवाले ही थे कि ऋषि उधर आ निकले। मोटा-पतंगा साँप लटकर रस्सी हो गया था और रूप बदरूप।

खिन्न होकर बोले : "अरे यह क्या हुआ तुझे साँप?"

"महाराज, आपने ही तो अहिंसा का उपदेश दिया था!" साँप ने भक्ति-भाव से, पर कातर स्वर में कहा।

ऋषि समझ गये कि क्या हुआ है उसके साथ और बोले : "अरे मूर्ख, मैंने यही तो कहा था कि काटना मत, पर यह कहाँ कहा था कि फुंकारना भी मत।"

साँप समझ गया और आज बहुत दिन बाद उसने फन उठाकर फुंकार मारी। बस, सारे खिलाड़ी नौ-दो-ग्यारह और साँप अब व्रती भी और मौज में भी।

मतलब यह कि उदार रहो, कृपा करो, सबके साथ समानता निबाहो, पर सस्ते न बनो, अपना भेद न दो कि दूसरे सिर पर से रास्ता करने की ठानें।

हमारे राष्ट्र के महाकवि कालिदास ने महाराज दिलीप के वर्णन में कहा है :

"भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम्।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः॥"

दिलीप में भयंकरता भी थी और कमनीयता भी, इसलिए उसके आस-पासवाले न उसकी अवज्ञा कर सकते थे, न उपेक्षा; जैसे भयंकर

जल-जीवों के कारण लोग समुद्र का मथ नहीं सकते, पर रत्नों के कारण छोड़ भी नहीं पाते।

कवि ने अपनी बात कविता में कही, पर लोक-सभा में बिना कविता की कविता गायी गयी है : 'न गुड़-सा मीठा, न नीम-सा कड़वा!' न ऐसा ही बन कि निगला जाये और न ऐसा ही बन कि तुझे लोग थूक दें।

कवि का काव्य और लोक-भाषा का उपदेश पढ़कर मुझे याद आ जाते हैं स्वर्गीय पण्डित आशाराम जी और रौबी को कमरे में ले जाकर कहा गया उनका वाक्य : "जो तुमसे मर्यादा में किसी तरह भी बड़े हैं, वे तुम्हारे साथ समानता का व्यवहार करें, तो इसे उनकी कृपा समझ, अपना अधिकार नहीं।" और तभी वे ब्रह्मचारी जी, जो उस दिन मुंह फुलाये मुझे राह में मिले थे!

मैं सोचता हूँ, यह रोग और उसकी पूरी चिकित्सा है।

□

लाल सेना की हवाई उड़ान के नीचे

लाल सेना की हवाई उड़ान के नीचे हिटलर की तरह वह अडिग अकम्प बैठा अपना काम करता है; जैसे यहाँ कुछ भी भयंकर या अशान्तिकर नहीं है। पूरी बात सुनकर आप कहेंगे कि हिटलर की उपमा में अतिशयोक्ति है, बात बढ़ा-चढ़ाकर कही गयी है, पर मैं भी उत्तर के लिए तैयार हूँ कि कहूँगा – बेशक वह हिटलर नहीं है, एक मामूली दूकानदार है, पर मेरे वाक्य की लाल सेना भी तो रूस की वीर लाल सेना या अँगरेजी सरकार की पुलिस के लिए भूत १९४२ के विख्यात विद्रोही मगनलाल की सेना नहीं है, लाल ततैयों की फ़ौज ही है।

फिर बहस की क्या बात है, आप पूरी बात जो सुन लें!

मोरगंज की मण्डी में एक गुड़-शक्कर की दूकान है और उसका मालिक है, एक पतला-दुबला दूकानदार। मैं अकसर देखता हूँ कि उसकी दूकान पर, दूकान के बाहर सड़क पर, हजारों लाल ततैयों की हवाई उड़ान जारी रहती है और उसके बीच में बैठा दूकानदार अपना काम करता रहता है। मैं उसकी दूकान के सामने से निकलता हूँ, पर दूर-दूर और बहुत सावधानी के साथ, हाथ-पैर बचाकर। फिर भी एक दिन एक दुर्घटना हो ही गयी।

मैं बचा-बचा जा ही रहा था कि देखता हूँ एक ततैया; सच मानिए, एकदम बमवर्षक-सा मेरी ओर बढ़ा आ रहा है। मैं भी अपने को तीसमारखाओं में शुमार करता हूँ, इसलिए मैंने हथेली की ढाल से उसे पीछे ढकेल दिया, पर मैं अपनी बहादुरी की तारीफ़ भी अभी न कर पाया था कि देखा वह अपने एक साथी के साथ पूरे वेग से मेरी ओर आ रहा है।

आ रहा है क्या, वे दोनों आ गये और मुझपर झपटे। मेरी होश गुम, पर विपत्ति के समय भी प्रयत्न करना मेरा स्वभाव है, इसलिए मैं अन्धा-धुन्ध दोनों हाथ चलाने लगा; जैसे घूँसेबाजी कर रहा हूँ।

अब मैं पसीने से तर हूँ, विवेक मुझे है नहीं और हाथ बराबर फेंक रहा हूँ। अचानक मुझे लगा कि वे दोनों बस मेरी गरदन पर लिपटने को ही हैं। बस, मैंने दोनों कुहनियों के बीच में कर लिया अपना मुँह और गरदन को लपेट लिये दोनों हाथ — बिलकुल वही मुद्रा, जैसे पाधा जी के यहाँ बच्चे सबक़ याद न करने पर कान पकड़ते हैं।

"बाबू जी, आपने यही तो ग़लती की, जो हाथ हिलाये। हाथ हिलाने से ये और ऊपर आते हैं।"

यह एक पल्लेदार की आवाज़ थी, जो राह चलते इधर आ निकला और जिसने हाथ के एक इशारे से उन दोनों को भगाकर मेरी जान बचायी थी। मैं इतनी देर में काफ़ी अस्त-व्यस्त हो गया था, इसलिए पानी पीने के लिए पास की दुकान पर बैठ गया। नौकर पानी लेने गया है और मैं सामने ही देख रहा हूँ कि हज़ारों ततैयों की भीड़ में वह दुकानदार गुड़ तौल रहा है।

एक ततैया उसके कान पर बैठ रहा है, ज़रूर काटेगा, पर नहीं, वह उड़ गया। एक दूसरा उसकी नंगी खोपड़ी पर बैठ गया। अब भिन्ना जायेगा इसका सिर, पर नहीं वह भी उड़ गया। वह गुड़ तौल रहा है और मैं देख रहा हूँ कि उसे जो डला तराज़ू पर चढ़ाना है, उसपर दस-बीस ततैये जमा हैं। दूकानदार ने उँगली के हलके इशारे से वह डला हिलाया और अरे, वे सब उड़कर दूसरे डलों पर जा बैठे!

पानी पीकर मैं चला आया; यह सोचता हुआ कि इस दूकानदार को ततैये कीलने का मन्त्र सिद्ध है या इन ततैयों से इसकी दोस्ती है?

श्रद्धेय श्री स्वामी कृष्णानन्द जी ने बहुत दिन हुए अपने प्रवचन में कहा था : एक बार भगवान् बुद्ध सायंकाल के समय एक मठ में पहुँचे और रात-भर के लिए स्थान माँगा। मठाधीश कट्टर हिन्दू महन्त था।

वह बुद्ध को देखकर जल गया और घृणा से बोला : "उस नदी-तटवाली कोठरी में स्थान है, तुम्हें पसन्द आये, तो वहाँ टिक सकते हो !"

बात यह थी कि उस कोठरी में एक साँप रहता था, जो कई आदमियों को काट चुका था। महन्त के यहाँ जो मालदार यात्री आ फँसता, वह इस कोठरी में ठहराया जाता। प्रातःकाल यात्री की लाश नदी में फेंक दी जाती और मालमता महन्त अपनी सन्दूक में रख लेता !

भगवान् बुद्ध ने वहाँ निवास किया। रात में जब वह भयंकर साँप निकला, तो भगवान् ध्यान-मग्न थे। साँप उनके सामने आया, फुंकारा, पर उन्हें क्या ? उनका ध्यान न टूटा। साँप क्रोध में अन्धा होकर सिर पटकने लगा और मर गया। प्रभात में जब महन्त भगवान् को नदी में फेंकने आया, तब उसने देखा भगवान् अब भी ध्यान-मग्न हैं और साँप मरा पड़ा है।

महन्त के रोम-रोम में एक प्रश्न उठा : यह क्या ?

मेरे मन में भी बार-बार यह प्रश्न उठता रहा कि ध्यान-मग्न भगवान् बुद्ध को साँप ने काटा क्यों नहीं, पर एक दिन एक दृश्य मैंने स्वयं देखा। मैंने एक कुत्ता पाल लिया। कुत्ता क्या भेड़िया था। उसकी एक ही गुर्राहट में आनेवाली रूह क़ब्ज़ हो जाती थी। सुबह-शाम हम उसे घर के भीतर रखते और दोपहर को बाहर छज्जे पर बाँध देते। इस छज्जे पर से तीसरी मंजिल में जाने का रास्ता था और दोपहर में ऊपर कोई आता न था।

एक दिन अचानक दोपहर को गाड़ी से चाचा मधुसूदनदास आ गये। वे हैं थानेदार ! उन्होंने मुझे पूछा और ऊपर चले। बच्चों ने यह देखा और कुत्ते की ओर से उन्हें सावधान किया, पर वे ऊपर को ओर बढ़ चले। उनकी आवाज सुनकर मैं भी (तीसरी मंजिल पर) कमरे के बाहर निकल आया। अब मैं देखता हूँ कि वे 'टाइगर' की ओर दृढ़ गति से बढ़े चले आ रहे हैं और यह खड़ा तो हो गया है, पर भौंकता नहीं। मैं बोलने को हूँ ही कि वे उसके पास आ गये और बिना उसकी ओर देखे

आगे निकल आये।

"टाइगर ने आपको कुछ नहीं कहा ?" मैंने पूछा तो बोले : "यह तो टाइगर है, हमें तो भइया, चोर-डाकुओं में जाना पड़ता है !"

जो 'टाइगर' किसी के दहलीज में आते ही हुंकार उठता है, वह चाचा जी के पास आने पर भी क्यों चुप रहा, क्या यह एक जरूरी सवाल नही है ?

क्रान्तिकारी शहीद श्री रामप्रसाद 'बिस्मिल' उस दिन किसी स्टेशन से गाड़ी में चढ़नेवाले थे और किसी तरह पुलिस को यह सुराग मिल गया था। स्टेशन को पुलिस ने घेर रखा था, पर उनमें से कोई बिस्मिल को पहचानता न था। समय पर बिस्मिल साहब आये—सूट, बूट, हाथ में हण्टर; एकदम साहब। फ़र्स्ट क्लास का टिकट और सूटकेस क़ुली के सिर पर। प्लेटफ़ॉर्म पर आते ही क़ुली ठोकर खा गया। अटैची सिर पर से गिरी और उसमें रखा रिवाल्वर प्लेटफ़ॉर्म पर निकल पड़ा। पुलिस अफ़सर उधर झपटा और सारी स्थिति बिस्मिल के सामने, पर घबरा गया, तो क्रान्तिकारी क्या ? बिस्मिल साहब ने बिना सामान की तरफ़ ध्यान दिये क़ुली पर हण्टर बरसाने शुरू किये। क़ुली पिट रहा है, लोच रहा है और वे चिल्ला रहे हैं : "सुअर, मेरा माउजर टूट जाता, तो क्या होता !" पुलिस-अफ़सर का सन्देह दूर हो गया और उसने आगे बढ़कर रिवाल्वर अटैची मे रखा और क़ुली से सामान फ़र्स्ट क्लास में रखवा दिया। बिस्मिल ने अफ़सर को धन्यवाद दिया और अपने डिब्बे में जा बैठे।

शिकार को अपने हाथ में पाकर भी पुलिस-अफ़सर क्यों चूक गया ?

चारों उदाहरण अपने-अपने ढंग पर अलग-अलग क़िस्म के हैं, पर उन चारों से जो चार प्रश्न उठकर हमारे सामने आते हैं, उनका उत्तर हम एक शब्द में पा सकते हैं और वह शब्द है स्थिरता। स्थिरता, यानी संकट का, चिन्ता का, समय होने पर भी अपने मन को, विवेक को, सोच-विचार की शक्ति को स्थिर रखना।

"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः ।।"

"घबराहट का अवसर होने पर भी जिनके मन अस्थिर नहीं होते, वे ही वास्तव में धीर पुरुष हैं ।" यह धीरता कुछ लोगों में स्वभाव से ही होती है और जिनमे नहीं होती, वे भी अभ्यास से इसे बहुत कुछ पा सकते हैं । इसका एक उदाहरण स्वयं मैं हूँ ।

बचपन में मैं बहुत डरपोक था, क्योंकि मेरी माँ लाड़ के कारण मुझे मनुष्य नहीं, चिड़िया का बच्चा समझती थी । शाम होते ही मैं घर आ जाता था । अँधेरे के नाम से भी मैं घबराता था और मुहल्ले से बाहर तो मैं दिन में भी नहीं जा सकता था । बड़े होने पर मैंने धीरे-धीरे अपने को सबल किया और उसी का फल है कि जिन परिस्थितियों में बहुत-से लोग प्राण छोड़ देते हैं, आज मैं उनमें हँस सकता हूँ—हँसता रहा हूँ ।

धीरता प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय ईश्वर-विश्वास है । जो भगवान् करेंगे ठीक है, मेरा काम केवल काम करना है, इस तरह का चिन्तन मनुष्य को धैर्य देता है और धीरे-धीरे धैर्य आदत हो जाती है । जब जीवन में अधीरता की कोई घटना हो, तो बाद में उसपर एकान्त में बैठकर कुछ देर पछताइए—बात ही क्या थी कि मैं घबरा गया, भविष्य में ऐसे अवसर पर मैं शान्त रहूँगा, इस तरह के विचारों से चरित्र बनता है । दण्डस्वरूप एक समय या एक दिन का भोजन छोड़ दीजिए, तो जल्दी सफलता मिलेगी, आ-पड़े संकटों को सुगम भी करेगी ।

घबराये मनुष्य ! तेरे भीतर ईश्वर की विभूति है, खुदा का नूर है । मन को शान्त कर, हाथों की मुट्ठियाँ बाँध, अपने रास्ते पर पैर बढ़ा । रास्ते की रुकावटें, कायरों के लिए ही रुकावटें हैं । धीर पुरुष के लिए वे रास्ते की सीढ़ियाँ बन जाती हैं । विपत्तियों को दूर या पास से देखकर हाथ-पैर न फुला । अपने मन को पकड़े रह । भगवान् बुद्ध की आत्म-साधना हमारे पास भले ही न हो, गुड़वाले दूकानदार, मेरे चाचा थानेदार और बिस्मिल की स्थिरता तो हम सब मनुष्यों की अपनी ही चीज है । हम

बिना टिकट सफ़र नहीं कर रहे हैं। टिकट हमारे पास है, इस जेब में नहीं, तो उस जेब में, यहाँ नहीं मिलता, तो स्टेशन पर हम उसे पा ही लेंगे। यह जो अचानक चलती रेल में टिकट-चैकर आ खड़ा हुआ है, इससे हम क्यों झेंपें, क्यों घबरायें ?

□

मैं यह हूँ, मैं वह हूँ !

हिन्दी के एक प्रख्यात कहानी-लेखक से उनके एक साथी ने एक बार पूछा कि आपकी अपनी अमुक कहानी के सम्बन्ध में क्या राय है ?

कहानी-लेखक महाशय बोले : "मेरा काम कहानी लिखना है, सो मैंने कर दिया। अब उसपर सम्मति देना कि वह कैसी रही, यह आपका काम है। भला अपना काम आप मुझसे क्यों कराना चाहते हैं ?"

इस प्रश्न और उसके उत्तर से स्पष्ट है कि लेखक के लिए पूरा अवसर था कि वह अपनी प्रशंसा स्वयं कर सके, पर उसने उसका वैसा उपयोग नहीं किया। हम कह सकते हैं कि यह उसकी शालीनता थी और यों वह हमसे प्रशंसा पा गया।

एक दूसरे लेखक हैं। उनकी पुस्तक पढ़कर एक दूसरे साथी ने उनसे कहा : "आपकी यह पुस्तक बहुत अच्छी रही।" लेखक महोदय हाथ जोड़कर खिसियाते-से बोले : "अजी, पुस्तक तो आपकी है। हम तो यों ही काग़ज काला करते हैं।"

इस प्रश्न और उसके उत्तर से यह स्पष्ट है कि लेखक अपनी पुस्तक की उस प्रशंसा को काफ़ी नहीं समझता और अपनी सामाजिक चतुरता से वह अपने साथी को मजबूर कर रहा है कि वह उस पुस्तक की और अधिक प्रशंसा करे।

एक तीसरे लेखक हैं। अभी हाल में उनकी एक पुस्तक छपी है। उस दिन रास्ते में मिल गये और मिलते ही बोले : "भाई साहब, हमारी पुस्तक आपने पढ़ी ?"

मैंने कहा : "हाँ देखी तो थी; खूब लिखते हैं आप!" बोले : "आज-

कल धूम है हिन्दी में उस पुस्तक की !" मुझे काम जाना था, इसलिए मैंने उन्हें धकेलते हुए-से कहा : "अरे साहब, आपकी धूम न होगी, तो किसकी होगी।" मेरा खयाल था कि अब वे मुझे जाने देंगे, पर उन्होंने जोर से ठहाका मारकर हाथ मिलाने के ढंग पर मेरा हाथ थाम लिया और हाथ पकड़े ही पकड़े बोले : "भाई साहब, हमारी यह पहली ही पुस्तक है और श्रीयुत् क, श्रीयुत् ट और श्रीयुत् श की कई-कई पुस्तकें निकल चुकी हैं, पर हमने उन्हें पहली पुस्तक में ही पछाड़ दिया है; यह सब आपकी कृपा है।"

अब बताइए; मैं क्या कहूँ ? क्या यह कहकर अपनी प्रतिष्ठा कम करूँ कि नहीं जी, मेरी कृपा में यह ताक़त कहाँ कि आपको सर्व-श्री क, ट, श को पछाड़ने की शक्ति दे सके या यह कहकर अपने ही हाथों अपने को बेवक़ूफ़ बनाऊँ कि हाँ जी, यह बात है, सचमुच आपने अपनी पहली ही पुस्तक में उन तीनों अँगरेजों को चारों खाने चित्त दे मारा है ? आखिर, क्या कहूँ मैं उनसे ?

"चुप रहूँ।" यह आपकी राय है, पर मालूम होता है कि आप राय के ही बहादुर हैं, तभी तो आपकी यह राय है। यह राय देते समय आपने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि मेरा हाथ उनके हाथ में इस तरह दबा हुआ है; जैसे कन्यादान के समय दुलहिन का हाथ दुलहे के हाथ में होता है कि दुलहिन चाहे, तब भी उसे खींच नहीं सकती ! फिर वहाँ तो सामाजिक मर्यादा का ही बन्धन होता है और यहाँ ताक़त का सवाल है। आप देख नहीं रहे हैं कि लेखक महोदय ने मेरा हाथ इस तरह कसकर चुस्त-चौकस थाम रखा है कि जैसे कोई समझदार डॉक्टर मेरे हाथ की टूटी हुई हड्डी का अन्दाज़ा ले रहा हो। तो मतलब यह है कि मैं कभी नहीं काट सकता और मौन धारण करके पीछा छुड़ाने का भी अवसर मुझे मिल जाये, यह सम्भव नहीं। यह देखिए, मेरे मित्र मेरा हाथ दबाकर मुझपर उत्तर का तक़ाज़ा कर रहे हैं। बात यह है कि मेरे मित्र समझदार हैं और खूब जानते हैं कि नीबू हो या सन्तरा, रस दबाव से ही

निकलता है ।

तो मुझे उनकी बात पर कुछ कहना ही पड़ेगा और उनकी बात है यह कि—"भाई साहब, हमारी यह पहली ही पुस्तक है और श्रीयुत् क, श्रीयुत् ट और श्रीयुत् श की कई-कई पुस्तकें निकल चुकी हैं, पर हमने उन्हें पहली ही पुस्तक में पछाड़ दिया है । यह सब आपकी कृपा है !"

सत्य को रक्षा का आश्वासन और असत्य को थपथपी देते हुए मैंने कहा : "जी, बहुत-से खिलाड़ी ऐसे भी होते हैं, जो फ़ील्ड में उतरते ही दर्शकों का मन मोह लेते हैं ।"

लेखक महोदय के चेहरे पर मुसकान की लहर खेल गयी और तब उत्साह क्या, उल्लास में भरकर उन्होंने पूरे जोर से मेरा हाथ झकझोर दिया । मैंने इसे इस चौराहा-चौकड़ी का विदाईपत्र समझा और अपने तरफ़ से भी इसमें अच्छा ज़्यादा-सा हिस्सा लिया, पर मेरा यह सोचना मेरी भूल थी; क्योंकि मेरा हाथ अब भी उनके हाथ में, सच मानिए, उसी तरह दबा था, जैसे जिल्दसाज़ के शिकंजे में किताब कसी रहती है !

कसे ही कसे बोले : "भाई साहब, आपको मालूम है कि हिन्दी के महान समालोचक डॉ. शिवकुमार शर्मा ने हमारी पुस्तक पर क्या सम्मति दी है ?"

"जी, नहीं, मुझे मालूम नहीं" मैंने यह कहा, तो आश्चर्य से वे बोले : "वाह-वाह, उस सम्मति की तो आज-कल साथियों में धूम है और आपको उसका पता भी नहीं ?"

मौन रहकर मुझे मानना पड़ा कि मुझसे साहित्य-देवता के मन्दिर में यह भयंकर भूल हो गयी है कि अभी तक मुझे इनकी पुस्तक के सम्बन्ध में लिखी डॉ. शर्मा की उस सम्मति का ज्ञान ही नहीं हुआ, जो किसी को नहीं दिखायी—हाँ, इन्हीं के शब्दों में जिसकी आज-कल साथियों में धूम है !

मेरे मौन को, समझना की बात है कि उन्होंने काफ़ी गम्भीर प्रायश्चित्त मान लिया और बोले : "भाई साहब, डॉ. शर्मा ने कहा है कि इस

पुस्तक में जो निबन्ध संकलित किये गये है, उन्होंने हिन्दी में एक नयी शैली को जन्म दिया है, जो शताब्दियों तक भावी लेखकों को राह दिखायेगी !"

अब मैंने धार को काटने में मूर्खता और उसके साथ तैरने में अक्लमन्दी मान ली थी। तैराकी का आनन्द लेते हुए मैंने कहा : "वाह, तब तो यह निश्चय है कि ईसा की तीसवीं शताब्दी में निबन्धों के जो क्लासिकल संकलन छपेंगे, उनमें आपके निबन्धों को भी ऊँचा स्थान मिलेगा।"

लेखक महोदय फूलकर कुप्पा हो गये और फूँट की तरह खिलकर बोले : "यह सब आपका आशीर्वाद है भाई साहब ! अच्छा, आपको इस बारे में एक और बात बताऊँ ?"

मुझे तो अब जमकर तैरना था, इसलिए कहा : "हाँ, हाँ, जरूर बताइए, यह तो हमारी राष्ट्रभाषा के लिए बहुत ही गौरव की बात है।"

मैंने देखा कि उनके चेहरे पर एक नयी चमक ही नहीं आया, स्वर भी भुरभुरा हो गया; जैसा कि अकसर आपने मोन दिये शकरपारे में अनुभव किया होगा।

बोले : "इसे आप अहंकारी बात न समझें, मेरा यह विश्वास है कि मेरे इन निबन्धों ने कहीं-कहीं तो विश्वविख्यात अमेरिकन निबन्ध-लेखक इमर्सन के निबन्धों को फीका कर दिया है।"

जरा रुककर बोले : "आप देख लीजिएगा कि आज नहीं तो कल, यह बात आलोचकों को झक मारकर स्वीकार करनी पड़ेगी और मेरे निबन्धों का अनुवाद शीघ्र ही संसार की सब भाषाओं में हो जायेगा।"

यह सब सुना तो मैं तैरना भूलकर अवाक् रह गया। अवाक्; जैसे पत्थर की मूर्ति। मेरे दिल की धड़कन ही भागी नहीं पड़ी, आँखें भी खुली ही रह गयी। मैं क्या सोच रहा था ? सच यह कि कुछ भी सोचने के लायक मैं नहीं था। एक मानसिक सन्नाटा मुझपर छा गया था !

हर आदमी दुनिया को अपनी ही आँख से देखता है और हर आँख

के देखने का अपना ढंग है। लेखक महाशय ने मेरे मानसिक सन्नाटे को वैसी मुग्धता समझी, जैसी कि अमरनाथ के निकट पहुँचकर एक भावुक के मन पर छा जाती है और तब स्वयं भी मुग्ध होकर वे बोले : "भाई साहब, आपको मालूम है कि यह पुस्तक मैंने कितने दिनों में लिखी है ?"

मैंने सिर हिलाया, तो बोले : "कुल साढ़े पाँच महीने में ! लीजिए, पूरा हिसाब ही जो आपको दिये देता हूँ। १९ मार्च को पहला निबन्ध लिखा था और २४ जून को पुस्तक प्रेस में दी। यों समझिए कि आधे ही निबन्ध तब तक तैयार थे। इधर वे छपते रहे, उधर मैं आगे के लिखता रहा और इस तरह पुस्तक १४ सितम्बर को तैयार होकर बाज़ार में आ गयी !"

मैंने कहा : "भाई, आपने तो पाँच महीने में वो काम कर दिया कि दिल्ली से न्यूयार्क तक छा गये। सचमुच आप राष्ट्रभारती के वीर पुत्र हैं !"

यह मेरी कराह थी, पर आपसे कहा नहीं अभी मैंने कि हर आदमी दुनिया को अपनी ही आँखों से देखता है और हर आँख के देखने का अपना ढंग है। मेरी कराह में उन्हें संवर्धना के स्वर सुनाई दिये और हाथ छोड़कर उन्होंने मेरे पैर छू लिये। यह शायद इतनी देर मन लगाकर बात सुनने का पारिश्रमिक था।

जब लेखकों की बात चल निकली है, तो एक और सुन लीजिए। हमारे देश में ईसा की बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक भाग में एक ऐसे लेखक हो गये हैं, जिन्हें हमारे साहित्य का ही नहीं, हमारे राष्ट्र का इतिहास सदा आदर के साथ याद करेगा।

उन्होंने अपने उभरते दिनों में एक मासिक पत्रिका के विशेषांक का सम्पादन किया। विशेषांक में लेख थे, कविताएँ थीं, गद्यगीत थे, आलोचनाएँ थीं, परिचय थे, टिप्पणियाँ थीं, यात्रावृत्तान्त थे, अनुसन्धानों की भूमिकाएँ थीं...संक्षेप में, सर्वांगपूर्ण विशेषांक था यह। आलोचकों ने लिखा कि हरेक अधिकारी लेखक से ही लिखाकर सम्पादक महाशय ने इस

विशेषांक को एक गुलदस्ता बना दिया है।

बाद में धीरे से बात की पुड़िया खोल दी गयी कि ये सब रचनाएँ उन विशेषांक-सम्पादक द्वारा ही रची गयी थीं। बस फिर क्या था, पत्रों में इस समाचार की ही डौंडी नहीं पिटी, इस समाचार पर नफ़ीरी भी बजायी गयी और अनेक कार्यालयों से एक साथ उन महाशय की चहुँमुखी प्रतिभा का जयघोष हुआ।

ये चार नमूने आपके पास हैं। इनमें विभिन्नता है, ये चारों अलग-अलग मानसिक मानदण्डों के प्रतिनिधि हैं, पर इनमें एक बात समान है कि सभी अपनी प्रशंसा चाहते हैं। इस समानता को देखकर क्या हम जीवन-शास्त्र का यह सामान्य-सूत्र रच सकते हैं कि आत्मप्रशंसा मनुष्य की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है ?

निश्चय ही हम इस सूत्र की रचना कर सकते हैं, पर इसे रचकर हमें कहीं उलझना न पड़े, यह सम्भव नहीं है, क्योंकि सूत्र की रचना करते ही एक तीखे प्रश्न का हमें सामना करना पड़ेगा। वह प्रश्न यह है : जब अपनी प्रशंसा से प्रसन्न होने की वृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक है, तो चौराहे पर मिले लेखक महाशय की बातें सुनकर हमारे मन में वितृष्णा क्यों पैदा हुई ? वे बेचारे अपनी प्रशंसा ही तो कर रहे थे।

प्रश्न सचमुच तीखा है और अपने लिए जगह चाहता है। यह जगह देनी पड़ेगी और यह हम इस तरह करेंगे कि कहें—अपनी प्रशंसा से प्रसन्न होने की वृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक है, पर इस वृत्ति के वश में होकर यहाँ तक बढ़ जाना कि हम अपनी प्रशंसा आप स्वयं करने लगें, जीवन की, हमारे चरित्र की एक हीनता है। इसे हम यों समझें कि भोजन मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है, पर बासी होकर और सड़कर यही भोजन विष हो जाता है।

संसार के महान् जीवनशास्त्री भगवान् कृष्ण ने तो इस हीनता को आत्म-हत्या ही कहा है। यह कहना भी एक कहानी है। लीजिए यह कहानी भी सुन लीजिए।

महाबली अर्जुन की यह प्रतिज्ञा थी कि जो मेरे धनुष गाण्डीव की निन्दा करेगा, मैं उसकी हत्या करके ही जल पीऊँगा। घर में सब लोगों को यह मालूम था, पर शोक का आवेग प्रबल होता है, युधिष्ठिर ही उस दिन कह बैठे कि धिक्कार है अर्जुन तेरे गाण्डीव को, जो वह अभिमन्यु की रक्षा न कर सका।

अर्जुन ने कहा : "यह तो जो कुछ है, सो ठीक है पर अब आप जीवित नहीं रह सकते और मैं आपकी हत्या करके ही जल पीऊँगा।"

अर्जुन की बात सुनी, तो सब सन्न, क्योंकि सभी उसकी गम्भीरता से परिचित थे। मामला बिगड़ता देखकर कृष्ण बीच में आ बैठे और बोले : "ठीक है, तुम्हारी प्रतिज्ञा की पूर्ति होनी चाहिए; क्योंकि जिसकी प्रतिज्ञा अपूर्ण रहे, वह कैसा क्षत्रिय? आइए धर्मराज, यहाँ सामने बैठिए और अर्जुन को अपना काम करने दीजिए!"

धर्मराज सामने आ बैठे। अब मामला और भी संगीन दिखाई दिया, पर तभी चतुर-शिरोमणि कृष्ण ने कहा : "अर्जुन, तुम्हारी प्रतिज्ञा हत्या करने की है सिर काटने की नहीं और शास्त्रों में किसी की उसके सामने कड़वे शब्दों में भर्त्सना करना भी हत्या है। तुम इसी रूप में धर्मराज की हत्या कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर सकते हो।"

प्रतिज्ञा पूरी हुई, लोगों का बोझ उतरा, पर तभी भीम ने एक नयी फुलझड़ी छोड़ दी। उसने कहा : हम सब भाइयों की यह प्रतिज्ञा है कि यदि किसी एक की मृत्यु हो गयी, तो बाकी भी आत्महत्या कर लेंगे। अब क्योंकि धर्मराज की मृत्यु हो गयी है, इसलिए हम सबको भी चितारोहण करना चाहिए।" वातावरण फिर ज्यों का त्यों गम्भीर हो गया। कृष्ण ने सोचकर कहा : "परिणाम कुछ भी हो, प्रतिज्ञा की पूर्ति तो होनी ही चाहिए, पर आपकी प्रतिज्ञा जीवन का अन्त करने की नहीं, आत्मघात करने की है। शास्त्रों में अपनी प्रशंसा आप करने को आत्मघात ही माना है। आप लोग भी अपने गुणों का स्वयं बखान करके यह प्रतिज्ञा-पूर्ति करें।" सबने अपनी-अपनी डींग हाँकी और उठ खड़े हुए।

हाँ, यह एक कहानी है, पर क्या जीवन का एक महान् सत्य नहीं है ? जो सुन्दर है, जो स्वस्थ है, जो गुणी है, उसे अपने सौन्दर्य का, अपने स्वास्थ्य का, अपने गुणों का ज्ञान रहे और वह इस ज्ञान से अपने भीतर एक प्रसन्नता, एक आनन्द अनुभव करे, यह मनुष्य की स्वस्थ दशा है। वह यह चाहे कि मैं अपने सौन्दर्य, अपने स्वास्थ्य और अपने गुणों को दूसरों के मस्तिष्क में ठूँसूँ और विवश करूँ कि वे उनका महत्त्व स्वीकार ही न करें, उसकी घोषणा भी करें, यह मनुष्य की अस्वस्थ दशा है। अपनी प्रशंसा आप करने की वृत्ति इस अवस्था को वैसे ही बाहर प्रकट करती है; जैसे देह के भीतर की गन्दगी को फोड़े।

"तो क्या यह एक मानसिक रोग है ?" प्रश्न ठीक है और उत्तर है : हाँ, यह एक मानसिक रोग है। यह उत्तर निश्चय ही एक नये प्रश्न को जन्म देगा। नया प्रश्न यह होगा कि रोग के निवारण का उपाय करना रोगी का भी कर्तव्य है और समाज का भी, तो इस रोग के निवारण का उपाय क्या है ?

उपाय है और वह बहुत कठिन भी नहीं है। जिन्हें यह रोग है, वे उसे, उसकी हीनता को अनुभव करें और बार-बार सोचें कि वे इस हीनता का शिकार होकर, समाज की आँखों में न गिरेंगे। बार-बार के इस चिन्तन से उनका रोग निश्चय ही घटेगा, पर उनके साथ ही समाज को भी अपने हिस्से का काम करना पड़ेगा। वह यह कि जिनकी जितनी प्रशंसा होनी उचित है, उतनी प्रशंसा करने में वह कृपण न हो और जो प्रशंसा के पात्र नहीं हैं, किसी भी कारण से उनकी प्रशंसा न करे।

यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है, क्योंकि जब हम उचित प्रशंसा नहीं पाते और इससे भी बढ़कर उन्हें प्रशंसा पाते देखते हैं, जो हमारी अपेक्षा गुणहीन हैं, तो हममें प्रशंसा आप करने की हीनता उत्पन्न हो जाती है।

□

मैं, तुम, वे; राज अधूरे !

"चश्मा लिये बिना आपका सिर-दर्द ठीक हो ही नहीं सकता !" एक अनुभवी मित्र ने कहा, तो मैं मजबूर हो गया कि आँखों के डॉक्टर को आँख दिखाऊँ !

जीवन के आरम्भिक वर्षों में पाधा जी ने जो वर्णमाला पढ़ायी थी, उसकी फिर से तीव्र परीक्षा करके डॉक्टर ने कहा : "योर लांग साइट इज आल राइट ।" तुम्हारी दूर से देखने की शक्ति तो ठीक है ।

ताजी परीक्षा की जो थकान मुझपर छा-सी रही थी, उसे उतारते हुए मैंने कहा : डॉक्टर, संसार में लांग साइट तो सभी की ठीक है, निर्बल तो शार्ट साइट—पास से देखने की शक्ति – ही है ।

डॉक्टर खो गया है, यह मैंने उसकी मुद्रा से जाना । ठीक भी है, वह आये दिन ऐसे रोगी देखता है, जिनकी दूर से देखने की शक्ति निर्बल है और मैं कह रहा हूँ कि डॉक्टर, लांग साइट तो संसार में सभी की ठीक है ।

राह टटोलते-से उसने कहा : "जी"

मैंने उसके चारों ओर जैसे एक जाला और पूर दिया : जी, क्या डॉक्टर, ठीक बात है, संसार में दूर देखने की शक्ति तो सभी की ठीक है, निर्बलता ने तो पास देखने की शक्ति को ही घेर रखा है ! और तभी मैंने यह सारा जाला समेट-सा लिया : डॉक्टर, तुम्हारी स्त्री को सारे गुण मुझमें और सारे दुर्गुण तुममें दिखाई देते हैं, पर मेरी स्त्री को सारे दुर्गुण मुझमें दिखाई देते हैं, यह इसके अतिरिक्त और क्या है कि लांग साइट इज आल राइट !

डॉक्टर सुलझ गया : "यस-यस पण्डित जी", और सुलझ गया कि

ज़ोर से हँस पड़ा। तब सुनायी मैंने उसे एक अपनी कहानी। साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश करते-करते ही मैं बनाया गया एक विशेषांक का सम्पादक। यह सूचना पत्रों में छपी और वे पत्र मेरी जन्मभूमि के पुस्तकालय में भी आये।

समय की बात; मैं पुस्तकालय में बैठा भीतर एक पुस्तक देख रहा और बाहर बरामदे में कुछ लोग पढ़ रहे पत्र। उस समाचार पर दो-तीन का ध्यान गया और आश्चर्य कुहरा-सा उनपर बरसा, तो बात चल निकली। यह सुनकर दूर बैठे एक सज्जन ने पूछा : कौन प्रभाकर? उन मित्रों ने बताया : समझाया, तो वे बोले : "अच्छा, वो रामा मिस्सर का लौण्डा!" मैंने सुना और मान लिया कि मैं उनके पास हूँ, तो सम्पादक, लेखक या और कुछ विशिष्ट भला कैसे हो सकता हूँ? मैं हूँ सिर्फ़ 'रामा मिस्सर का लौण्डा!' और बस यही!

डॉक्टर साहब हँसे और तब सुनायी उन्होंने अपनी भी कहानी : मैंने डॉक्टरी पास की, तो अपने ही क़स्बे में काम आरम्भ किया। मैं जब देहात से आये किसी बीमार को देख रहा होता, पास-पड़ोस की कोई बुढ़िया अपने पोते को लिये आती और ज़ोर-ज़ोर से मुझे कहती : "अरे रामधन, ले इसकी आँख में ज़रा-सी दवा डाल दीजो" यह सुनना भी एक साधारण बात थी : "अब तो भाई, बड़ा आदमी हो गया है तू!" ऊबकर दवाख़ाना यहाँ उठा लाया और अब मज़े में हूँ।

डॉक्टर साहब हँसे, तो मैंने भी उनकी हँसी में अपनी हँसी मिला दी : तो अब तो आप मान गये कि संसार में दूर से देखने की शक्ति अधिकतर लोगों को रही है?

जगजीवन की स्त्री एम. ए. पास है, संगीत में तानसेन और नृत्य में उदयशंकर के पास बैठती है। स्वतन्त्रता-दिवस को क्लब-गोष्ठी में उसने अपनी कला का जो प्रदर्शन किया, उसकी धूम मच गयी!

वासुदेव की स्त्री साधारण पढ़ी-लिखी है, नम्र है, सेवाशील है, रात-दिन अपने पति और परिवार की सेवा में लीन रहती है।

रात में प्रायः जगजीवन कहता है : "गाना-नाचना तो मनुष्य सिनेमा में जाकर भी देख-सुन सकता है, अपनी पत्नी से वह कुछ और ही आशा करता है। वासुदेव की पत्नी साक्षात् देवी है, दिन-भर काम करती है और क्या मजाल कि बिना पैर दबाये वासुदेव को रात में सोने दे!"

प्रायः ठीक इसी समय वासुदेव कहता है : "खाना-बरतन, झाड़ू-बुहारू, पैर दबाना और कपड़े धोना; यह सब तो दस रुपये का नौकर भी कर लेता है, मनुष्य अपनी स्त्री से कुछ और ही आशा करता है। देवी जी, जगजीवन की स्त्री है, क्लब जाती है, अफ़सरों से मिलती है और अपने पति के दस काम बनाकर लाती है। अगर वह बैठी पैर ही दबाती रहे, तो क्या फ़ायदा ?"

यहीं एक प्रश्न : यदि जगजीवन और वासुदेव परस्पर अपनी पत्नियाँ बदल लें; तो क्या सन्तुष्ट हो सकते हैं ? ऊपर से कहने को जी चाहता है—हाँ, पर अनुभव इसका समर्थन नहीं करता। कुछ सप्ताहों में ही जगजीवन का मन गूँजती स्वर-लहरी और थिरकते घुँघरुओं के लिए और वासुदेव का मन पिण्डलियों की हड़कल का विष चूसने को उचकती उँगलियों के लिए विह्वल हो उठेगा!

फिर ? यह एक प्रश्न है, जो मन में यहाँ उमड़ता है। प्रश्न छोटा-सा है, पर इसके भीतर जिज्ञासा के पुराण बिखरे हैं। फिर कुछ नहीं, बात यह है कि मनुष्य क्या चाहता है ? यह चाहता है ? वह चाहता है ? ना, सत्य यह है कि वह सब चाहता है, न यह, न वह। चाहता है वह यह भी और वह भी और कमाल यह है कि एक ही स्थान में, एक ही पात्र में, पर जीवन का सत्य चिर अतीत में संस्कृत के कवि ने पा लिया था, जो इस प्रकार है :

"प्रायेण सामग्रविधौ गुणानां
पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः॥"

—ब्रह्मा जी का स्वभाव सब गुणों को एक ही स्थान में एकत्र करने के विरुद्ध है—वे कहीं कुछ रखते हैं, तो कहीं कुछ और!

इकराम और हरिसिंह, दो पुराने साथी। इकराम ऐसा कि दुश्मनों के भी काम करता चले और यही नहीं कि दूसरों के काम आना उसका स्वभाव, यही उसका चाव भी। अपना समय और शक्ति लगाकर दूसरों के काम करे और उसमें रस भी ले। हरिसिंह उस दिन मिला, तो नाराज, इकराम के बारे में उसे शिकायत कि एक बात कही थी, उसने नहीं मानी! बात न मानना इकराम के स्वभाव के ही विरुद्ध, फिर यह क्या बात? जाँच की, तो जाना कि इसी वर्ष में इकराम ने हरिसिंह के दस काम सँवारे हैं। ग्यारहवें काम के समय वह बीमार हो गया और काम न कर पाया। अब हरिसिंह उन दस कामों की कहीं चर्चा नहीं करता, पर उस एक काम के नारे सब जगह लगाता है। उसके मन में उन दस कामों का आभार तो कहीं नहीं है, इस एक काम का उपालम्भ जरूर भरा है — उस बच्चे की तरह जो दिन-भर की सेवा को सायंकाल का पैसा न मिलने पर भूल जाता है और रूठा फिरता है।

एक सार्वजनिक मित्र हैं श्री तेलूराम। वे तब थे डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के प्रधान। उन्होंने मित्रों का एक मर्मस्पर्शी, पर मनोरंजक अनुभव सुनाया। बोले: "हरेक कहता है कि मैं इस पद पर रहते संस्था की प्रतिष्ठा का ध्यान रखूँ और हरेक चाहता है कि इस पद पर रहते, उसकी अनुचित माँग को तुरन्त पूरा कराऊँ!" कोई भला आदमी समुद्र के इन दो किनारों को एक साथ भला कैसे मिलाये?

डॉक्टर कहता है, वकालत में बड़ा आनन्द है, वकील कहता है आनन्द तो बस डॉक्टरी में है। एडीटर को आडीटर और आडीटर को एडीटर सुख में दिखाई देता है। बात यह है कि जो हमें प्राप्त है, हम उसे नहीं देख पाते, जो दूर है, वह हमारी उत्सुकता का केन्द्र है — उसके छिद्र हमें दिखाई नहीं देते!

जीवन का सच्चा पथ यह नहीं है कि जो हमें प्राप्त नहीं, उसके लिए हम रोते रहें। जीवन का सच्चा पथ यह है कि यत्न या योग से जो हमने पा लिया उसे पहचानें, उसे अपने अनुकूल बनायें, उसमें रस लें और

सन्तोष का सुख पायें।

सब कुछ अधूरा हमें मिला, सब कुछ पूरा दूसरों को; यह मृगतृष्णा है, जीवन का दिग्भ्रम है। जीवन का सबसे बड़ा सत्य है : अपूर्णता। मैं, तुम, वे, सब अपूर्ण, अपने में सब अधूरे; इस अपूर्णता का समन्वय, इस अधूरेपन का सदुपयोग ही जीवन की सबसे बड़ी कला है।

□

अब दूध नहीं मिल सकता !

कौशल जी, मैं और विद्या जी दिल्ली का लम्बा चक्कर काटते, दीवान हॉल की चौथी मंज़िल में अपने प्रवास-स्थान पर पहुँचे, तो थककर इतने चूर और निंदियाये कि जो ने कहा : हम यहाँ तक आ कैसे गये ?

हाथ-पैर धो, ज़रा ताज़े हुए, तो भीतर कोई बोल-सा उठा : आज तो हम दूध पीते !

भीतर ही किसी ने पूछा : पीते तो, पर लाये कौन ?

तो फ़ैसला हुआ कि अब दूध नहीं मिल सकता ! ठीक है, नहीं मिल सकता, क्योंकि दूध पीनेवाले मुँह और दूध देनेवाले हाथ के बीच, जो ये यमधात्रा-सी सीढ़ियाँ हैं, इन्हें उतरने का उत्साह किसी में नहीं और फिर उतरने का उत्साह भी ज्यों-त्यों उभरे, पर उतरकर फिर चढ़ना जो है। पतन आसान है, उत्थान कठिन, तो फ़ैसला हुआ कि अब दूध नहीं मिल सकता !

फ़ैसला तो ठीक है, पर फ़ैसले को मन आज मान नहीं रहा। मैं ख़ुद आश्चर्य में हूँ कि यह आज मुझे हो क्या गया है। मुझमें प्यास न हो ऐसा नहीं, पर कभी किसी प्राप्ति के लिए वह इतनी प्रबल नहीं होती कि मुझपर छा जाये। निराकुल मन मेरे जीवन में निर्माता का एक वरदान है। मैं अपने से कह रहा हूँ : आज यह वरदान अपनी अमोघता क्यों खो रहा है ? और फिर फिसला भी तो एक कुल्हड़ पर ? मैं सोच रहा हूँ, सब समझ भी रहा हूँ, पर प्यास जो एक बार उभर आयी है, तो उभर आयी है !

कौशल जी का थकान सिनेमा से उतरता है। इसमें क्यों-कैसे को

गुंजाइश नहीं। अपनी-अपनी मूड है यह तो!

वे झटके के साथ पलंग से उठे कि हमने भाँपा—बस जग गया इनका तो सेकेण्ड शो! मेरे लिए यह मुँह-माँगी मुराद—ही हुआ कि वे दूध देते आयें और कोई बीच में ले ले। न हम पूरी सीढ़ियाँ उतरें, न वे पूरी चढ़ें।

मैंने अपने से कहा: हो क़िस्मत के धनी। चाहा, सो पाया। लो आ रहा है दूध!

जो चाहा, सो पाया—सचमुच खुशी की बात है, पर यह क्या कि कौशल जी क्या गये—मेरी प्यास ही लेते गये! मैं अपने को बाहर-भीतर तलाश रहा हूँ, पर मुझमें दूध की वह प्यास कहाँ है कि मैं आकुल हूँ। वह कहीं नहीं है, पर अभी तो वह इतनी थी कि मैं उसपर आश्चर्य कर सकूँ!

दूध आ गया, गरम कुल्हड़ मेरे हाथ में है, मलाई आँखों में और उसकी सुहावनी सुगन्ध मस्तिष्क में, पर भीतर उसकी माँग नहीं है, पूर्ण तृप्ति है। यों पिऊँ, तो पी ही लूँ, पर न पिऊँ, तो पाऊँ कि पी चुका। प्यास रस्सा तोड़ जागी और जागकर यों सो गयी, यह बात क्या है?

भीतर ही भीतर बहुत पैड़ियाँ उतर गया, तो हाथ आया कि अब दूध नहीं मिल सकता, अभाव की इस भावना ने प्राप्ति की कामना को उग्र कर दिया था।

आज संसार के जीवन में जो हाहाकार है, छीना-झपटी है, उसके आधार-तत्त्व का यह मेरे लिए साक्षात्कार ही न था, सन्तोष के पक्ष में यह एक नयी दलील भी थी।

जीवन का अनुभव है कि रोज दोपहर को भूख लगती है, पर व्रत के दिन प्रातःकाल ही उचाट लग जाती है—मन की भूख ही तन की भूख का रूप धारण कर लेती है। 'अन्नक्षये वर्धति जाठराग्निः' का, कण्ट्रोल की चीजों की अधिक माँग बढ़ जाने का रहस्य और कंजूस माता-पिताओं की सन्तान के भुक्खेपन का मर्म ठीक-ठीक आज जाना।

और जाना कि अपने प्रति दूसरों का विश्वास पाकर और दूसरों के प्रति अपना सब कुछ सुलभ होने का विश्वास दिलाकर – यह गान्धी की स्वेच्छा से हो या मार्क्स की वैज्ञानिकता से – हम मानव की प्यास को बहुत कुछ नियन्त्रित कर सकते हैं ।

□

अजी, क्या करूँ काम ही नहीं निमटता !

हमारे अखिलेश जी दिन-रात के चौबीस घण्टों में से पन्द्रह-सोलह घण्टे तो काम करते ही रहते हैं और अठारह-उन्नीस घण्टों पर भी गाड़ी महीने में दो-चार बार पहुँचती ही रहती है। जब-जब उनसे इसकी शिकायत करता हूँ, वे कहते हैं : "अजी, क्या करूँ, काम ही नहीं निमटता !"

क्या सचमुच जीवन में इतना काम है कि आदमी को उससे समय पर खाने-पीने, घूमने, मित्रों से मिलने-जुलने और हा-हू करने का समय ही न मिले ?

इस प्रश्न का एक उपप्रश्न भी है कि यदि जीवन में सचमुच इतना काम है, तो क्या यह आदमी के जीवन का कोई स्वस्थ रूप है कि वह उस काम में इस तरह लिपट जाये कि आदमी होकर भी वह आदमी न रहे और आदमीनुमा एक मशीन बन जाये ?

मैं लम्बे अनुभव के आधार पर, मेरे गले में जितनी भी शक्ति है, उस सबको इकट्ठा कर क़रीब-क़रीब चिंघाड़ के स्वर में इन दोनों प्रश्न-चिह्नों का उत्तर देना चाहता हूँ : 'नहीं !'

हमारे लोकजीवन में एक मीठी गाली है : 'काम बढ़ावा !' माँ अपनी फूहड़ बेटियों को कहती है : "क्या काम बढ़ावा धी मेरे पेट पड़ीं !"

बस यही फूहड़पन कुछ लोगों के जीवन पर छाया हुआ है स्वयं उनके कारण या फिर उनके साथियों के कारण वे सब भी काम बढ़ावा हो गये हैं – तभी उनका काम नहीं निमट पाता !

दूसरा महायुद्ध घनघोर रूप में हो रहा था और अफ्रीका में दोनों पक्षों के पूरे साधन दावँ पर लगे हुए थे—जान-जान की बाजी थी। इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री चर्चिल ने सेनापति माण्टगुमरी को सन्देश भेजा कि वे कल रात में बारह बजे एक आवश्यक बैठक में शरीक हों।

माण्टगुमरी ने उत्तर दिया : "बारह बजे मैं बैठक में शरीक नहीं हो सकता; क्योंकि वह तो मेरे सोने का समय है !"

सेनापति माण्टगुमरी के युद्ध-संस्मरणों में उनकी दिनचर्या दी गयी है। वे युद्धस्थल में ही एक बड़े ट्रक में सोया करते थे। ठीक नौ बजे वे अपने ट्रक में पहुँचते और सोने के कपड़े पहन, चाय का एक कप पी, लेट जाते, कुछ देर उपन्यास पढ़ते और सो जाते। ठीक पाँच बजे उठते, तैयार होते और सात बजे अपने दफ़्तर में आ जमते। उनके ट्रक से कुछ ही दूर पर गोलाबारी होती रहती, पर वे सोते, तो बस सोते ही रहते।

क्या सेनापति माण्टगुमरी से मेरे पुत्र अखिलेश की ज़िम्मेदारियाँ कुछ ज्यादा हैं ? यह प्रश्न स्वयं अपने में एक अट्टहास का पिता है !

साबरमती आश्रम में बरसों बीते हमारे आकाश ने एक दृश्य देखा था। भोजन की घण्टी बजी और सब आश्रमवासी रसोईघर पहुँच गये। गान्धी जी भी अपनी थाली लिये घण्टी बजते ही चले, पर तभी आ गये कोई सज्जन और गान्धी जी को उनसे कोई डेढ़ मिनट बातें करनी पड़ीं। आश्रम का नियम कि घण्टी के दो मिनट बाद रसोईघर का द्वार बन्द। बस यहीं वह दृश्य कि झपटे-सपटे आ रहे गान्धी जी द्वार के बाहर की सीढ़ियों पर और द्वार के भीतर रसोई का प्रबन्धक। प्रबन्धक पाँच-सात सेकेण्ड रुके, तो गान्धी जी द्वार के भीतर हों, पर वह रुके, तो नियम टूटे और नियम टूटे, तो दण्ड पाये ! किवाड़ उढ़क गये और उढ़कन की ध्वनि को दो अट्टहासों की गूँज ने अपने में समा लिया। एक अट्टहास प्रबन्धक का और दूसरा अट्टहास गान्धी जी का।

वहाँ क्या ग़दर मच जाता जो प्रबन्धक कुछ पल ठहर जाता और यों गान्धी जी को दूसरी पंक्ति में भोजन करने के दण्ड से बचा लेता ?

न ग़दर मचता, न प्रलय होती, पर कड़ियों के जोड़ की यही ढील तो है, जो भयंकर युद्ध की घड़ियों में भी माण्टगुमरी को सोने का समय देती और अखिलेश जी को रात तक काम में जुटाये रखती है।

काम को काम की तरह करो, तो काम कभी क़ाबू के बाहर न हो और काम को काम की तरह न करो, तो काम कामदार को अपने क़ाबू में कर चले। इसी का नाम है—काम बढ़ावा !

मेरे पड़ोस में ही एक कम्पनी का कार्यालय था। तीन सज्जन उसमें प्रमुख कार्यकर्ता, पर कम्पनी के कार्यालय की ताली शाम को रहे सबसे बड़े मैनेजर के पास।

प्रातः नौ बजे उनके छोटे कर्मचारी आये तो ताला बन्द। देर ज़्यादा हो, तो दूसरे संचालक भी आ पहुँचे और बाहर चहलक़दमी किया करें। ऐसा भी हो कि कोई कर्मचारी बड़े बाबू जी के घर ताली लेने जाये, तो खबर मिले कि वे कहीं गये हैं।

एक दिन मैंने उनसे कहा : "पाँच आने में इस मसले का हल हो सकता है।"

आश्चर्य से बोले : "भला किस तरह ?"

मैंने कहा : "पाँच आने में इस ताले की दो तालियाँ और बनवा लीजिए और एक छोटे मैनेजर को एवं एक लेबर-इन्चार्ज को दे दीजिए। बस, जो पहले आयेगा, ताला खोल लेगा। वे बहुत लज्जित हुए कि इस ज़रा-सी बात के लिए उनका काम बढ़ा हुआ था।

एक धनी मित्र हैं। उनका नौकर परेशान था कि दौड़ते-दौड़ते पाँव टूट जाते हैं और शाम को सुनना पड़ता है कि तुम काम ही क्या करते हो ?

बात यह है कि वे नौकर को एक काम बताते हैं कि बाजार से अमुक चीज ले आ। नौकर चीज लिये बाजार से लौटता है, तो हुक्म मिलता है : ले, यह पत्र अमुक सज्जन को दे आ। नौकर अभी-अभी जहाँ से वह चीज लेकर आया है, उसके पास ही ये मित्र रहते हैं। नौकर सोचता है और ठीक सोचता है कि यदि सेठ जी यह पत्र भी मुझे पहले ही दे देते, तो मैं सामान लाने के साथ ही उसे भी देता आता।

स्पष्ट है कि सेठ जी काम को काम की तरह करना नहीं जानते।

'काम को समेटो, बखेरो मत!' यह भी एक लोकोक्ति है।

काम का समेटना क्या? काम का बखेरना क्या?

एक बड़े परिवार में मेरा आना-जाना है। परिवार में धन भी है, जन भी हैं। रोज हल्ला मचता कि नहाने पर धोती-तौलिया ठीक नहीं मिलता : "अरे मिट्ठन, मेरी धोती ला! अरे बुद्धू, मेरी तौलिया कहाँ फूँक दिया!" यह मैं अक्सर सुना करता।

एक दिन मैंने मिट्ठन और बुद्धू को समझाया कि तीसरे पहर जब बाहर चौक से सूखी धोतियाँ और तौलिया उतारते हो, उसी समय उन्हें स्नान-गृह में रख दिया करो, जिससे जो जब नहाने जायेगा, उसे अपनी धोती-तौलिया वहीं तैयार मिलेगा। साथ ही बाजार से मँगाकर मैंने पाँच-छह खूँटियाँ स्नान-गृह में लगवा दीं—नौकरों की परेशानी दूर हो गयी, तो घरवालों का सुभीता बढ़ गया।

यह है काम का समेटना।

एक साहित्यिक मित्र के घर गया, तो देखा कि उनके लिखने की मेज पर बिजली का टेबिल लैम्प भी रखा है, उसके पास ही मिट्टी के तेल की लालटेन भी और उस लालटेन के पाँखे में एक दियासलाई की

डिबिया भी।

पूछा : "हज़रत, यह लालटेन क्यों विराजमान है यहाँ ?"

बोले : "लिखते-लिखते कभी अचानक बिजली बुझ जाये, तो इसे जला लेता हूँ और यों इधर-उधर दौड़ने और ठोकरें खाने से बच जाता हूँ।"

यह है काम का समेटना और यह-वह क्या था, काम को समेटना सीखना हो तो डाकिये से सीखिए, जो अपनी हज़ारों चिट्ठियों को इस सिलसिले से लगाता है कि क़दम के साथ चिट्ठियाँ अपने-अपने ठिकाने पहुँचती चली जाती हैं।

□

लो भिखारी, दुर मज़दूर !

मैं हरद्वार जा रहा था और वे भी। वे भी, माने एक मारवाड़ी धनी परिवार। इस परिवार में एक सेठ जी कोई चालीस वर्ष के, सेठानी जी, एक जवान लड़का और एक चार-पाँच साल की लड़की।

मेरी तबीयत ज़रा ख़राब, मैं अपनी सीट पर लेटा हुआ। शानदार सेकेण्ड क्लास का डिब्बा, जिसमें दो सीट नीचे और दो ऊपर। ऊपर-वाली सामान से लद-फद। उनके लड़के ने चाहा कि मेरी सीट पर वह खिड़की के पास बैठे। मैंने चाहा कि हाँ, वह ज़रूर बैठे और पैर सकोड़े, पर सेठ जी ने उसे आँखों ही आँखों लिया कि कहा : "देखते नहीं, पण्डित जी की तबीयत ख़राब है, इधर बैठो !"

मैं कर्मों में रावण का रूप या कंस का प्रतिनिधि भले ही हूँ, जन्म से ब्राह्मण हूँ और ब्राह्मण हूँ कि पूज्य हूँ; यह सेठ जी ने बिना परिचय के ही जान लिया, तो मुझपर उनकी धार्मिकता की एक छाप पड़ी। फलों की बड़ी टोकरी उनके साथ थी, उसे दिखाकर बोले : आप कोई कष्ट न मानें सन्तरे लें, आपकी तबीयत सँभलेगी। मैंने माना कि आदमी सज्जन हैं।

गाड़ी स्टेशन पर रुकी, तो सेठ जी की खिड़की के नीचे चार-पाँच भिखमंगे, दीन, हीन, मलीन। सेठ जी ने सेठानी जी को इशारा दिया कि भूखों की झोली में पूरियाँ पड़ीं और सेठ जी को आशीष मिली। फिर एक स्टेशन, फिर भिखारी, फिर भोजन। किसी अनाथालय के दो लड़के गाड़ी में आ गये—गाते, भीख माँगते। सेठ जी और सेठानी जी ने उनसे ख़ूब भजन सुने। सेठानी जी ने दोनों को खाना खिलाया, सेठ जी ने एक रुपया दिया और छोटी मुन्नी ने अपना सन्तरा।

मैंने सोचा : सारा परिवार ही उदार है। हर आदमी अपनी आदत से मजबूर है। मैं यह सोचकर यहीं न रुका और सोचता गया : मनुष्य और मनुष्य के बीच भेद-भाव संसार का सबसे बड़ा पाप और मनुष्य-मनुष्य के बीच एकता संसार का सबसे बड़ा पुण्य है। ममता इस पाप-पुण्य के बीच का सेतुबन्ध है।

सेठ जी की स्वभाववृत्ति के लिए मेरे मन में स्वाभाविक था कि आदर का भाव उपजा और पनप चला।

यह आ गया हरद्वार।

कुलियों ने सेठ जी का सामान नीचे उतारा : "अच्छा सरकार, तो हुक्म हो जाये!" वे जानना चाहते थे कि उन्हें क्या मिलेगा?

सेठ जी ने बण्डलों की ओर ताका और इनका बोझ आँका, तो बोले : "बोझा बेसी नहीं है, उठाओ बारह आने मिलेंगे!"

"बारह आने?" कुली जैसे आकाश से गिरे।

"हाँ भई, बारह आने। तीन-तीन आने तीन कुलियों की मजदूरी और तीन आने बकसिस, हमने ठीक बोल दिया है, उठाओ!" सेठ जी ने उन्हें सँभाला।

कुली चुपचाप देखते रहे, न बोले, न बढ़े। एक अजीब पैंतरा था। सेठ जी ने उन्हें सहलाया : "अच्छा नौ आने मजदूरी, सात आने बकसिस; उठाओ!"

"माई-बाप! हम गवरमिंट के नौकर थोड़े ही हैं, हम तो आप ही के नौकर हैं। आपसे न लें, तो कौन दे।" एक कुली ने सारा, तो दूसरे ने पूरा : "हुजूर आप तो राजा आदमी हैं। हम रात-दिन आदमी को देखते हैं। सरकार, हम आदमी को पहचानते हैं।" यहीं तीसरे ने फेंकी तुरुप : "सरकार, तीन रुपये का काम है।"

प्रशंसा के मायाजाल में उलझते-उलझते सेठ जी ने उन्हें एक झटका दिया : "ना, ना, तीन रुपैया को के काम है। हमारा टाइम बेस्ट (समय

खराब) मत करो। उठाना हो, तो उठाओ, नहीं तो हमारा नौकर रख देगा। नौ आना मज़दूरी नौ आना बकसिस; एक रुपया दो आना मिलेगा।"

सेठ जी किनारे पर आ गये थे। अब अंजलियाँ भरने का समय न था, कोई चुटकी ही की जा सकती थी। कुलियों ने इसे भाँपा और वे सामान की ओर बढ़े। बढ़ते-बढ़ते उन्होंने एक झोंक दी : "वाह सरकार, आप नौकर से क्यों सामान उठवावें, हम किस लिए हैं। आप एक पैसा न दें, तो भी हम सामान नहीं छोड़ सकते!" और सामान उठाते-उठाते आवाज़ आयी : "इतनी बड़ी सरकार ने खुद कह दिया है, छह आने हम छोटे सेठ जी से इनाम लेंगे।"

सेठ जी ने एक हलकी-सी आड़ दी : "ना, ना, यह सब कुछ नहीं। तुम लोग मुसाफ़िरों को बहुत तंग करते हो।"

सामान ताँगों में रखा जा चुका, तो दुअन्नी के साथ रुपया कुलियों की ओर बढ़ाया गया। अब एक अजीब झमेला कि सभी कुछ न कुछ बोल रहे हैं। अपना माथा छू-छूकर कुली लोग माँग रहे हैं और सेठ जी हाथ हिलाकर मना कर रहे हैं। सेठ जी आखिर झुके और डेढ़ रुपया कुलियों के पल्ले पड़ा।

तभी आ जुटे दस-बीस भिखारी। सेठ जी ने सबको एक-एक अधन्नी दी—बिना तक़ाज़े; और ताँगा चला।

मैंने सोचा : बहुत तंग करते हैं ये कुली। हर आदमी अपनी आदत से मजबूर है। मैं सोचकर यहीं न रुका और सोचता गया—जिस मनुष्य ने अनाथालय के लड़कों को बिना माँगे एक रुपया दिया और जिसने भिखारियों को माँगते ही पाँच-सात आने दे दिये, वह कुलियों से चार-छह आने बचाने के लिए इतनी देर क्यों उलझता रहा? इस आदमी के पास पैसा है, यह उसे खर्चना चाहता है, खर्चना जानता है, यह स्पष्ट है; फिर मनोवृत्ति की यह कौन-सी दिशा है जिनके साथ उसका कोई सम्पर्क नहीं, उन्हें देने को वह तैयार है, पर जो उसकी सेवा करते हैं, उसे सुख पहुँचाते

हैं, उन्हें देने को वह तैयार नहीं है !

एक अद्भुत मनोदशा है इस सेठ की, पर क्या यह इस सेठ की ही मनोदशा है ? सोचता हूँ कि कुछ गहरे उतर पाऊँ, तो याद आ गयीं मुझे अपनी एक भाभी जी ! जो मिलता है उनकी प्रशंसा करता है । जो उनका एक बार अतिथि हो गया, वह दूसरों का आतिथ्य फिर पसन्द नहीं करता । नम्र, हँसमुख, उदार और सज्जन ।

उनका एक बूढ़ा धोबी है । धोबी उनसे काम भी पाता है, स्नेह भी, सद्व्यवहार भी । एक दिन उसे कपड़े दिये गये कि वह आज ही धो लाये । धोबी ने दूसरा काम छोड़कर यह काम किया और जब हिसाब लिखने का समय आया, तो मजदूरी दुगुनी लिखायी, पर भाभी जी इस पर तैयार न हुईं और सारी बहस का अन्त उन्होंने यह कहकर कर दिया : "यों तुझे जरूरत हो तो दो रुपये माँग ले, मैं मना नहीं करूँगी, पर यह क्या कि एक दिन जल्दी धो लाया, तो चार आने के आठ आने बताने लगा ।"

बिलकुल वही सेठ की मनोवृत्ति—यदि माँगने की मुद्रा में तू सामने आये, तो तुझे दो रुपये देना भी सरल, पर यदि मजदूरी की बात है, तो ये आठ आने भी मेरे लिए कुबेर का भण्डार !

देने-देने में यह अन्तर क्यों ? भिखारी को, ग़रीब को देते समय भी एक आना छह नये पैसे का है मजदूर को देते समय भी वह पाँच पैसों का नहीं होता, फिर एक को देने में वह रपटता क्यों है और दूसरे को देने में वह चिपकता क्यों है ?

बहुत सोचा, तो एक बात पायी कि भिखारी माँगता है, तो जैसे बिना कहे भी कहता है : मेरा कोई अधिकार नहीं है, यह आपकी कृपा है । इस अधिकार-हीनता और कृपापूर्णता में दाता की महत्ता है—उसे देते समय बिना अनुभव किये भी, दाता को यह गौरव अनुभव होता है कि मैं इससे बड़ा हूँ, सामर्थ्यवान् हूँ—ओह मैं !

इसके विरुद्ध मजदूर जब माँगता है, तो जैसे बिना कहे भी कहता

है : मैं भीख तो नहीं माँगता साहब, मैंने तो पहले काम किया है, तब माँग रहा हूँ।' यह माँग मेरा अधिकार है। साफ़ है इस माँग में लेनेवाले का अधिकार है, देनेवाले की बाध्यता है।

तो संक्षेप में : भिखारी, गरीब या असमर्थ माँगते समय अपने 'अहं' को दीनता में डुबो देता है और दाता देते समय अपने अहं की प्यास बुझती-सी अनुभव करता है, तो मजदूर माँगते समय अपना अधिकार-सा अनुभव करता है और दाता देखता है कि उससे कुछ वसूल किया जा रहा है।

पहले में दोनों पक्ष अस्वस्थ है और दूसरे में केवल पहला, पर हम भिखारी के कार्य को मान रहे हैं स्वाभाविक; यानी उसका अधिकार और मजदूर के कार्य को मान रहे हैं अस्वाभाविक; यानी उसकी धृष्टता। इसके साथ ही दाता के दर्प को हम मान रहे हैं पुण्य और मजदूर के अधिकार-हरण को सेठ की चतुरता!

हमारे लिए जीवन के प्रश्नों का समाधान है धर्म और धर्म की दृष्टि में वह कार्य पाप है, जिसमें दीनता है, दर्प है, अपहरण है।

यह सब समाज-व्यवस्था की अस्वस्थता के चिह्न हैं। स्वस्थ समाज-व्यवस्था में, न भिखारी की दीनता के लिए स्थान है, न दाता के दर्प के लिए और न मजदूर की धृष्टता के लिए, न धनपति की चतुरता के लिए। उसकी दृष्टि में तो विषमता और अव्यवस्था ही रोग है और समता और व्यवस्था ही स्वास्थ्य!

□

जब हम बाज़ार में हँसे !

बाजार भी एक अजीब जगह है। जगह क्या, इसे पूरा नाटक समझिए। यों देखने में तो इस नाटक के पात्रों की संख्या अनगिन है, पर असल में यहाँ दो ही पात्र हैं : एक दूकानदार, दूसरा खरीदार।

दूकानदार के पास है सामान और खरीदार के पास है पैसा। भक्त और भगवान् की जोड़ी है, पर ऊँहूँ : यह उपमा भी ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ दोनों ही भक्त हैं और दोनों ही भगवान् और तभी तो मैं कहता हूँ : बाजार भी एक अजीब जगह है।

चहल-पहल बाजार की जान है। यह चहल-पहल है खरीदारों की, दूकानदारों की। इस चहल-पहल में कभी-कभाक गरमी भी आ जाती है और मामला गाली-गलौज पर ही नहीं रुकता, मार-पीट तक पहुँच जाता है, पर आम तौर पर यहाँ प्रसन्नता की छाया रहती है।

"क्यों भला ?"

ठीक जगह पर ठीक प्रश्न है आपका, पर उत्तर इसका साफ़ है। बात यह है कि बाजार की मनोवृत्ति है मिलन की, ले-दे की, समन्वय की। यह न लड़ने से सधता है, न झगड़ने से। लो, यों समझ लो कि दूकानदार को जरूरत है खरीदार की और खरीदार को जरूरत है दूकानदार की — एक का काम दूसरे के बिना नहीं चल सकता; इसलिए दोनों को एक-दूसरे से मिलना है, जी हाँ मिलना ही है।

बातचीत में जरा साहित्यिकता की पुट देने में आपको भी मजा आता हो, तो मैं कहना चाहता हूँ कि मिलन का फूल प्रसन्नता की बेल पर ही फूलता है, इसलिए बाजार का वातावरण आम तौर पर प्रसन्नता

का ही रहता है। हास्य है प्रसन्नता का लाड़ला पूत, इसलिए यह बाजार के वातावरण में खूब फलता-फूलता है और यों बाजार की खरीदारी में हास्य की किलकारियाँ यदि प्रायः सुनाई देती रहती हैं, तो यहाँ सवाल का सन्तरी क्यों अपनी जरूरत माने ?

और फिर आप तो इस तरह पूछ रहे हैं, जैसे कभी बाजार की खरीदारी में आपके साथ किसी ने या किसी के साथ आपने मजाक़ ही न किया हो ? क्यों, उस दिन तो मैं आपके साथ ही था जब विश्वम्भर बजाज ने आपपर एक तगड़ी-सी मुहर जड़ी।

"कब ? कैसी मुहर ?"

जी, भूल गये आप ? उस दिन मैं पत्नी के लिए शाल खरीद रहा था और आप भी साथ थे। मैं शाल देखता रहा और आप मूँगफलियाँ खाते रहे। जब हम लोग शाल लेकर चले, तो विश्वम्भर जी ने आपको आवाज दी। आप लौटे, तो उसने रूमाल की एक पोटली आपको दी कि यह आप भूल गये थे बाबू जी !

आपने पोटली ले ली, शायद यह समझकर कि मेरी कोई चीज है, पर तभी उसे खोली, तो उसमें मूँगफलियों के छिलके थे। ओह, हम सब कैसे लोट-पोट हुए हँसते-हँसते और आपका उस दिनवाला मुँह तो मुझे आज भी याद है !

उस समय तो आपकी तबीयत बहुत ही झक हुई, जब विश्वम्भर जी ने बहुत भोली-सी सूरत बनाकर आपसे ही पूछा : "क्यों बाबू जी, यह आपकी नहीं है क्या ? माफ़ कीजिएगा हुजूर; मैंने यही समझा था !"

ओफ़्-ओह। उस समय हँसी का जो दूसरा दौर आया, तो क़हक़हे आसमान तक पहुँच गये और मुझे स्वर्गीय प्रेमचन्द का गूँजता अट्टहास याद हो आया !

झिंगा चौधरी को तो आप जानते ही हैं, हमारे पड़ोस में ही फल-सब्जियाँ बेचता है। एक दिन उसकी दूकान से, हाँ दूकान ही है और

गया; मैं सब्जी लेकर चला, तो केले के छिलके पर रपट पड़ा। दोनों पैर चौड़े हो गये और मैं पलक मारते हनुमान्-आसन करता नजर आया। हथेली का बल सड़क पर दे, मैं सीधा हुआ, तो झिंगा चौधरी मुझसे पूछता है, "कहिए बाबू जी, क्या उठा लिया ?"

अब बताइए, उसे मैं क्या जवाब देता, पर आते-जाते लोग खूब हँसे। ठीक है, लोगों को तो बिना पैसे का तमाशा चाहिए, पर उस दुष्ट की बात देखिए। दूसरे दिन मैं सब्जी लेने नहीं गया और श्रीमती जी को भेज दिया, तो झिंगा उनसे कहता है, "क्यों बहू जी, आज बाबू जी नहीं आये ? कल हमारी दूकान पर से उन्हें एक गिन्नी पा गयी थी, पर हम उनसे हिस्सा थोड़े ही बँटा रहे थे — पायी चीज़ परायी चीज़ !"

श्रीमती जी मेरी जेब की पाई-पाई पर निगाह रखती हैं। चौंककर झिंगा से बोलीं, "बाबू जी को कल गिन्नी पायी थी ?"

मुंह बनाकर झिंगा ने कहा, "हाँ, बहू जी, जयपुरी गिन्नी; यहीं हमारी दूकान के सामने से पायी और बाबू जी उठाकर ऐसे नौ-दो-ग्यारह हुए कि हमारी तरफ़ देखा भी नहीं।"

श्रीमती जी सब्जी लेकर लौटीं, तो महात्मा परशुराम की तरह क्रुद्ध और बोलीं : क्यों जी, अब तुम बहुत उस्ताद हो गये हो। मुझे बताया भी नहीं कि तुम्हें गिन्नी पायी है, जैसे घर में जो दौलत बरसती है, उसे मैं अकेली ही पी जाती हूँ ?"

मैं परेशान कि कौन-सी गिन्नी, पर श्रीमती जी का टैम्परेचर डिग्री पर डिग्री हाई ! बहुत देर में बात खुली, तो हम लोग खूब हँसे, पर दूसरे दिन झिंगा को मैंने डाँटा, तो बोला : "अजी बाबू जी, हँसी-मजाक़ के बिना ज़िन्दगी झाँवों का ढेर है। बहू जी को गिन्नी न बताता, तो आप कैसे हँसते ?"

यासीन भाई को सारा शहर जानता है। बड़े सीधे आदमी हैं बेचारे, पर उस दिन उनकी दूकान पर सुना कि एक ऐसा ख़रीदार आया, जो सीधेपन में उन्हें भी मात कर गया। यह शहरों से दूर किसी पहाड़ी गाँव

का रहनेवाला था।

यासीन भाई की दूकान पर काँच का एक गिलास रखा था उलटा। उसे देखकर बोला। "यह क्या है भाई ?" उन्होंने कहा : "यह गिलास है" तो खरीदार उसे छूकर आश्चर्य से बोला : "यह कैसा गिलास है, इसमें तो मुँह ही नही !"

यासीन भाई ने सरल-स्वभाव कहा : "उलटकर देख भैया !" खरीदार ने उसे उलटकर देखा, तो और भी गहरे आश्चर्य में डूबकर बोला : "ओह हो:, इसमें तो तली भी नहीं है !"

पता नहीं यासीन भाई की दूकान पर ऐसा खरीदार आया या नहीं, पर शिवचन्द्र कुमार ने उस दिन रेल में यह बात सुनायी, तो हँसी के फ़व्वारे छूट पड़े। मैंने कहा : "संसार के साहित्य में सरलता का इससे बढ़िया उदाहरण नहीं मिल सकता।"

एक छोटा-सा रिमार्क, एक मामूली-सा इशारा, बाजार के वातावरण को हास्य से भर देता है। गिरीशदत्त पाण्डेय मेरे मित्र हैं। चीजें खरीदने का रोग है उन्हें। दूकानदार का दिमाग़ चाट जाते हैं बेचारे का, पर उस दिन उस अँगरेज महिला ने उन्हें ऐसा सबक़ दिया कि याद करेंगे पाण्डेय जी ! अपनी श्रीमती जी के लिए उन्होंने कानों के मोती खरीदे। लेते-लेते बोले : "मैडम, ये ठीक भी हैं ?" मैडम ने निहायत नजाकत के साथ जरा मुसकराकर कहा : "पहनकर जो देख लीजिए !" ओह हो, इतने जोर से चारों ओर हँसी फूटी कि पाण्डेय जी खुद कानों के मोती बन गये।

इस महिला के पास एक बूढ़ा अँगरेज था। उससे पाण्डेय जी ने जुराबें लीं। उनपर क़ीमत लिखी थी आठ आने। पाण्डेय जी को यह कम लगी, तो बोले : "आठ आने ही ?" बूढ़े ने पेन्सिल पाण्डेय जी की ओर बढ़ाकर कहा : "धन्यवाद, लीजिए बारह आने कर दीजिए !" मामूली बात थी, पर बूढ़े की लचक और कहने के ढंग ने समा बाँध दिया

और हम सब हँसी में डूब-से गये ।

बात यह है कि बारातों के बाद बाजार ही वह स्थान है, जहाँ आदमी खुले दिल होता है और उसे राह-चलतों से मसखरी सूझती है। कभी-कभी यह मसखरी लाभदायक भी हो जाती है ।

मंगल हलवाई बुरा आदमी नहीं है, पर बूढ़ा हो गया है । उस दिन प्रोफ़ेसर साहब ने चार आने देकर रेवड़ियाँ लीं, पर मंगल लिये चार आने भूल गया । बेचारे भले आदमी, दोबारा चार आने देकर चुपके से चले आये, पर उनके दो शैतान विद्यार्थियों को यह पता लगा, तो वे तन गये ।

दूसरे दिन एक लड़का उसकी बेंच पर जा बैठा और बोला : "लो लाला, आज हमें वज़ीफ़ा मिला है, तुम हमें छकाकर मिठाई खिलाओ ।" लाला तो ऐसों की खोज में ही रहता है, दोना भरकर हाजिर किया। तभी दूसरा लड़का आया और पहले से अनजान-सा बेंच के दूसरे किनारे बैठ गया । दोनों मिठाई खाने लगे । जो बाद में आया था, उसने पहले हाथ झाड़े और उठ चला । लाला ने कहा : "अरे, पैसे तो दे !" लड़का बोला : "वाह लाला, दोबारा पैसे माँगते हो, अभी तो दिये हैं एक रुपया पाँच आने । आज अफ़ीम ज्यादा तो नहीं खा गये ?"

लाला जी ने न्याय के लिए उस लड़के की तरफ़ देखा, जो इससे पहले आया था और अब रूमाल से मुँह पोंछ रहा था : "क्यों बाबू जी, आप इससे पहले से बैठे हैं, आप ही बताइए, इसने मुझे पैसे दिये हैं ?"

लड़के ने चलने के लिए पैर बढ़ाते हुए-से कहा : "लाला, तुम अब भुलक्कड़ हो गये हो, पर खैर, इसके एक रुपया पाँच आने तो भूल गये, मेरा डेढ़ रुपया न भूल जाना ।"

"और तुमने ही कहाँ दिये हैं अभी पैसे ?" लाला ने जोर से कहा, तो वह बोला : "वाह-वाह, यह एक और हुई । मालूम होता है लाला, सब मुफ़्त खानेवाले तुम्हारी ही दूकान पर आते हैं । दूकान है या सेठ मँगनी राम का सदाव्रत !"

दस-पाँच आदमी इकट्ठे हो गये। सामनेवाले दूकानदार ने सारी बात सुनकर कहा : "मंगल, अब तेरी अक़्ल सठिया गयी है। कल प्रोफ़ेसर साहब से झगड़ रहा था, आज इन लड़कों से उलझ बैठा !"

मंगल लाला ने क़समों की झड़ी बाँध दी, तो एक पड़ोसी ने कहा : "तो भाई, यह तो हो नहीं सकता कि दुनिया के सब आदमी बेईमान और बस एक तू ही राजा हरिश्चन्द्र !"

बात खतम हो गयी, पर पास की गली में पहुँचते ही दोनों लड़कों की जो हँसी छूटी, तो पेट फूल गये। मंगल तीन रुपयों का मारा गया और मजा यह कि अब जो खरीदार आता है, नखरे से कहता है : "ले भाई ये पैसे, देख भूल मत जाना !" मंगल सुनता है और कुढ़ता है, पर कुछ कर नहीं पाता ! प्रोफ़ेसर साहब के चार आनों का बेचारे को ऐसा सूद देना पड़ा कि काबुली का सूद भी मात हो गया – लाला दे रहा है, दे रहा है, दिये जा रहा है और जाने कब तक दिये जायेगा।

हास्य जिन्दगी की एक निशानी है। निशानी क्या भाई साहब, यह जीवन का एक चोचला है और चोचला कहने में एक हलकापन-सा जरूर कानों को लगता है, पर सचाई यह है कि चोचलों के बिना जिन्दगी गूँगी है, जैसे बिना लहरों की धार। तभी तो हमारे साहित्याचार्यों ने हास्य को भी एक रस माना है। और बड़े-बड़े कलाकारों ने अपनी जीवन-भर की साधनाओं के द्वारा इसे एक महान् कला का रूप दे दिया है।

पर हाँ, उस पहाड़ी-से शहर का मोटा दूकानदार, न साहित्यिक, न साधक, न विद्वान्, न पण्डित; चाय का एक मामूली-सा दूकानदार; अनपढ़ के साथ अनगढ़ भी, पर उसने उस दिन मेरे प्रश्न का उत्तर देते हुए, हास्य को ऐसा कलात्मक रूप दिया कि मैं देखता रह गया। और देखता क्या रह गया यों ही, उसने अपनी बात कही ही इस ढंग पर कि हास्य के बड़े-बड़े बेढब और बेधड़क लेखक देखते रह जायें।

अच्छा, प्रश्न क्या था; यह जानना चाहते हैं आप ? मैं उस बेवक़ूफ़

से प्रश्न ही क्या करता — मैंने उससे यह शिकायत की कि तुम्हारी दूकान पर क़लई के गिलासों में चाय दी जाती है और बहुत देर तक गरम रहते हैं, इससे पीने में देर होती है। तुम प्याले क्यों नहीं रखते ?

शिकायत सुनते ही चीनी के साथ ही चम्मच भी गिलास में झटके के साथ डाल, वह अपनी मैली गद्दी पर रखे उस उघड़े-से तकिये के सहारे लग, अपना गाल हथेली पर दिये बैठ गया। बैठ गया और बस बैठा है; जैसे मैंने उसे कोई बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण समाचार सुना दिया हो।

अब मैं हलकी-सी चिन्ता से घिरा-घिरा उसे देख रहा हूँ और वह है कि गुम ! तब मैंने पूछा : "क्यों भाई क्या हुआ ?" बहुत संजीदगी टोन में बोला : "अजी बाबू जी, क्या बताऊँ आपको अपना ग़म, आप तो पढ़े-लिखे मालूम होते हैं; ज़रा यह तो बताओ कि जैसे आदमी हिन्दुस्तान में हैं, वैसे दुनिया में कहीं और भी हैं ?"

क्यों भाई, अपने मुल्क के आदमियों से तुम क्यों परेशान हो ? मैंने उससे पूछा, तो पालथी को उकड़ूँ कर अपनी कोहनी को घुटने पर टेकते हुए बोला : "मैं क्यों परेशान हूँ, यह पूछ रहे हैं आप ? बाबू जी, मुझे परेशानी का कोई दौरान नहीं उठता और न मेरा बाप वसीयत में मुझे यह धरोहर दे गया है—परेशान तो मुझे आप करते हैं।"

मैं तुम्हें परेशान करता हूँ ? आश्चर्य में डूबकर मैंने पूछा, तो खिजियाते दाँत दिखाकर बोला : "जी हाँ, आप मुझे परेशान करते हैं। मारी नहीं बन्दूक़ आपने मेरे कलेजे में अभी ?"

"बन्दूक़ ! मैंने तुम्हारे बन्दूक़ मारी ?" आस-पास बैठे तीन-चार आदमियों की तरफ़ मैंने देखा। वे भी मेरी ही तरह आश्चर्य से उसकी ओर देख रहे थे। दूकानदार अभी उसी मुद्रा में था। बोला : "ये बन्दूक़ से कम हैं आपके सवाल—क़लई के गिलास क्यों रखे हैं ? चीनी के प्याले क्यों नहीं ? बाबू जी मेरे कलेजे पर इस सवाल की चोट बन्दूक़ से भी ज्यादा पड़ती है।"

ज़रा ठहरकर बोला : "अँगरेज़ जब चाय पीता है, तो बस दुनिया

को भूल जाता है। धीरे-धीरे बातें करते, हँसते, खिलखिलाते, इस तरह प्याले मे चुसकियाँ लेता है कि थकान उड़ी चली जाती है और ताजगी गात के रोयें-रोयें में समा जाती है, पर हिन्दुस्तानी आदमी दूकान में घुसने से पहले ही 'चाय बनाओ, बनाओ चाय' की हड़बड़ी मचाता आता है, जैसे गिरफ़्तारी का वारण्ट लिये दरोग़ा पीछे आ रहा हो। चाय का प्याला जहाँ उसकी मेज पर आया कि उसने उठाया। अब प्याला हाथ में, चाय मुँह में, पर आँखें बाहर सड़क पर और जहाँ कोई आता-जाता दिखाई दिया कि यह चिल्लाया : ठहरना। मैं भी आ रहा हूँ, बस, इसके बाद तो यह हाथ से प्याले को देगा एक झटका कि चाय हो गले के पार; जैसे कुनैन मिक्सचर और उड़ेगा बाहर को।

जाते-जाते पैसे गद्दी पर फेंकेगा, जैसे जुर्माने में दे रहा हो भला आदमी। अरे यह कोई चाय है? चाय पीना बाबू जी हमसे सीखिए। सुबह दुकान खोलते ही पहले अपना गिलास बनाते हैं। उस वखत राजा आये या लाट साहब, बात नहीं करते। उसी का तो यह नतीजा है।"

यह कहकर उसने अपनी बेडौल तोंद पर चक्करदार हाथ फेरकर थपथपी दी और तब बोला : "बाबू जी, १५ अगस्त से मैंने क़लई के ये गिलास रख दिये हैं, जिससे राजी से नहीं तो लोग मजबूरी से ही सही, दो घड़ी सुस्ताना तो सीखें।"

यह अब फिर पहले की तरह ही बैठ गया और केतली उठाते हुए बोला : "बाबू जी, आपकी चाय ठण्डी हो रही है। पीजिए, अब आपको मेरा गिलास कुछ नहीं कहेगा" और वह इतने मीठे ढंग से हँसा कि मैं उसकी तरफ़ देखता रह गया।

जोकर की तरह गिर-पड़कर किसी को हँसा देना आसान है, पर हँसी में एक बात पैदा करना कठिन है और अब भी कभी-कभी मुझे वह अनपढ़ और अनगढ़ दूकानदार याद आ जाता है कि वह सचमुच इस कला का पण्डित था। उसने गम्भीरता का वातावरण बनाकर उसमें हास्य का वह फूल खिलाया कि चाय-निर्माता ही नहीं, चाह-निर्माता भी हो गया।

भाई किशनचन्द सिलाई की मशीन और पंखों के स्थानीय विक्रेता हैं। वे एक दिन मिले, तो मैंने कहा : "भई, हमें एक पंखा चाहिए, पर वह घूमनेवाला हो।"

मेरा मतलब ऑस्सीलेटिंग पंखे से था, पर वे बनकर बोले : "भाई साहब, किसी दिन हमारी दूकान पर आ देखिए। आपने शायद ध्यान नहीं दिया : हमारा तो हर पंखा घूमता है !"

वाह, एक सादे सवाल पर क्या रंगीन वारनिश हो गयी यह कि पंखों की बात चलते ही यह बात जीभ पर आ जाती है।

बाजार का हास्य किसी भी राष्ट्र के सामूहिक जीवन की एक कसौटी है। यदि इस हास्य में फूहड़पन हो, तो मानना पड़ेगा कि यह राष्ट्र सामूहिक दृष्टि से अभी पिछड़ा हुआ है और सुघड़पन हो तो कह सकते हैं कि यह राष्ट्र सभ्य है, संस्कृत है। इस स्थापना की छाया में बाजारू हास्य एक राष्ट्रीय धरोहर है, जिसे सुरक्षित रखना ही नहीं सुसज्जित करना भी प्रत्येक राष्ट्र-अभिमानी का कर्तव्य है।

□

रात तकिया ऊँचा था !

सुबह जागा, तो गुद्दी के नीचे का पट्ठा अकड़ा हुआ था। हाथ से उसे दबाकर उठा, तो देखा कि रात दोनों तकिये सिर के नीचे रहे और सीमा से बाहर ऊँचाई पर सिर रखने का ही यह फल है। सोचा, तेल की मालिश करनी होगी, सिकाई भी, तब यह ठीक हो जायेगा—कोई सीरियस बात नहीं है !

निश्चय ही कोई सीरियस बात नहीं है—सीरियस यानी खतरनाक। पट्ठा अकड़ गया है, खुल जायेगा, इसमें सीरियस क्या होना था, पर उसमें कड़क है, बार-बार ध्यान उधर जाता है और ध्यान कोई ऐसा पदार्थ नहीं है कि जहाँ जाये, वहीं जमा रहे। उचटकर इधर-उधर भी झाँक चलता है।

सिर ऊँचा रखने से दर्द क्यों हो गया ?

'हमेशा अपना सिर ऊँचा रखो' यह तो तेजस्वी पुरुषों का वचन है। सिर ऊँचा रखना जीवन का चिह्न है। जिसका सिर नीचा हो गया, उसका फिर रहा ही क्या ?

पर यह क्या, मुझे सिर ऊँचा रखने का ही यह फल मिला कि शल हो गया हूँ, न इधर मुड़ सकता हूँ न उधर। यह अच्छा सिर ऊँचा किया !

केस तो सीरियस नहीं था, प्रश्न जरूर सीरियस है। सीरियस यानी गम्भीर। दर्द के गर्भ में यह तो समाजशास्त्र का—हाँ, जीवनशास्त्र का एक प्रश्न उभर आया। सिर ऊँचा रखना यदि जीवन की रक्षणीय तेजस्विता है, तो फिर ऐसा करने में यह दर्द क्यों ?

तप तो यह नहीं है, कष्ट-सहन भी तो यह नहीं है; यह तो रोग है।

रोग का सीधा-सा अर्थ है : बीमारी, पर यह शब्द तो निरर्थक है। बीमारी का कुछ रूप तो है, पर अर्थ क्या है ? असल में रोग का अर्थ है, शरीर के प्राकृतिक नियमों को भंग करने का दण्ड। शरीर को ठण्ड से बचाना चाहिए, परन्तु फिर नंगे, बस हो गया जुकाम और अब पीते रहो जुशान्दा। जो अपराध करेगा, वह दण्ड न भोगेगा तो क्या इनाम पायेगा ?

तो इसका अर्थ हुआ कि सिर ऊँचा करना एक अपराध था और यह दर्द उसका दण्ड है ?

सिर ऊँचा करना एक अपराध है, यह कहना क्या स्वयं अपने में एक अपराध नहीं है ?

ये दो प्रश्न बने। इनमें सत्य कहाँ है ? पहले या दूसरे में ? दोनों के पक्ष में 'हाँ' कही जा सकती है और 'ना' भी। यह तर्क की महिमा है, पर तर्क निर्णायक नहीं होगा। यह मस्तिष्क की रेखाओं में अनेक रंग भर देगा, पर हृदय की वीणा उससे झंकृत न होगी। उसके लिए अनुभूतिमय चिन्तन की आवश्यकता है।

अनुभूति की छाया में दोनों का समन्वय है, पर समन्वय का आधार है सीमा। इन दोनों प्रश्नों की भी सीमा रचनी होगी। रचनी, यानी समझनी होगी।

सिर ऊँचा करना एक अपराध है। इसकी सीमा है शक्ति, यानी शक्ति से अधिक ऊँचा करना अपराध है।

सिर नीचा करना एक अपराध है। इसकी सीमा है, अशक्ति—दीनता, यानी दीनता के कारण सिर झुकाना एक अपराध है, क्योंकि अशक्ति स्वयं अपराध है।

सत्य अब सामने आ गया, पर उसे खोलकर देखने की जरूरत है ?

जगनन्दन कल तक ग़रीब था, दूर के रिश्ते की एक बुआ मरी और उसे दस हजार दे गयी। उसकी आँखें हिरन हो गयीं। तीन हजार की मोटर खरीदी और तीन मुक़दमे शुरू किये : दो दीवानी के और एक फ़ौजदारी के। तीसमार खाँ के नाम से लोग अब उसका मजाक़ उड़ाते

हैं। हरिनन्दन भी कल तक एक ग़रीब था। दूर के रिश्ते की बुआ उसे भी दस हज़ार दे मरी। तीन हज़ार में उसने अपने बूढ़े पिता का ऋण उतारा, एक हज़ार में घर की मरम्मत की, एक हज़ार में लड़की ब्याही, पाँच सौ में पड़ोस के मन्दिर का फ़र्श बनवा दिया और बाक़ी में अपनी दूकान खोल ली। दो-चार आने रोज़ ग़रीबों में बाँट देता है, सब उससे खुश हैं।

दोनों ने सिर ऊँचा किया, पर एक अपराधी हो गया और दूसरा सम्मानित, सीमा का यही रूप।

और लीजिए: श्रीकृष्ण भी लेखक है और नन्दराम भी। दोनों चाहते हैं कि उनके लेख प्रशंसित हों और उनके मित्र उन्हें लेखक के रूप में जानें।

श्रीकृष्ण अपने लेख का आरम्भ करने से भी पहले, जो मिलता है, उसी से उसका ज़िक्र करने लगता है: "मुझे स्त्रियों के बारे में एक लेख लिखना है। एक सम्पादक का बड़ा तक़ाज़ा हो रहा है। 'सरस्वती' में उन्होंने जब से मेरा वह पहला लेख पढ़ा, तभी से मेरे पीछे पड़े हैं। फ़ुरसत नहीं मिलती, वरना एक लेख रोज़ लिखता।" लेख लिखकर वह अपनी मेज़ पर रख लेता है और जो आता है, उसे ही सुनाता है — जो लेख को समझने योग्य नहीं, उनसे भी चर्चा करता है। सबसे पूछता है कैसा रहा? फिर-फिर पूछता है और कहीं किसी भी लेख की चर्चा हो, उसके साथ अपनी तुलना अवश्य कर बैठता है।

मित्रों से ज़बरदस्त तारीफ़ वसूल करता है और फूल उठता है। पीछे उसके मित्र उसे हौलू कहते हैं।

नन्दराम के लेख बराबर पत्रों में छपते हैं, पुरस्कार भी उसे मिलते हैं और समारोहों के निमन्त्रण भी। अपने लेखों के प्रसंग आने पर वह भी मित्रों से चर्चा करता है और उसके मित्र जानते हैं और मानते भी हैं कि वह एक श्रेष्ठ लेखक है।

दोनों में प्रशंसा की चाह है, पर एक को सीमा ने प्रशंसनीय बना

दिया और दूसरे को होलू । सिर ऊँचा रखने की भी यही बात है — सिर ऊँचा रखो, पर शक्ति की सीमा देखकर । यों ही सिर ऊँचा किये फिरोगे, तो लोग तुम्हें ऊँट कहेंगे । सिर ऊँचा करने की भी एक कला है और इस कला की कुंजी यह सीमा ही है ।

अच्छा, तो सीमा में ही सही, निष्कर्ष यह निकला कि सिर ऊँचा रखो । सुनने में यह अच्छा लगता है, पर भीतर तक उतरें तो बड़ी बेहूदी बात है । सिर ऊँचा रखने की बात को अच्छा-अच्छा कहते युग बीत गये, इसी से अच्छा लगता है । शब्द में स्वयं तो कुछ शक्ति होती ही नहीं, जनता के व्यवहार द्वारा यह शक्ति उसमें प्रतिष्ठित की जाती है । 'सिर ऊँचा रखो' इसमें जो एक ऊँचाई हमें भासती है, वह भी प्रतिष्ठित की हुई है, स्वयं अपनी नहीं है । तो यह सोचना होगा कि इस वाक्य में ऊँचाई की यह भावना कैसे प्रतिष्ठित की गयी या हो गयी ?

सिर अपनी जगह पर है, पैर अपनी जगह ! सभा-समाज में कोई पैर ऊँचा करके बैठे तो यह असभ्यता है । बड़ी उलझन है, पर यह सुलझ जायेगी, यदि हम और आगे बढ़ें और यह पा लें कि असल में मौलिक तत्त्व यह है कि सिर नीचा न करो, जहाँ वह प्रकृति द्वारा स्थापित है, वहाँ से उसे नीचे मत झुकाओ । इस सत्यता का – सत्त्व का – लोक-व्यवहार में अनुवाद हो गया : सिर ऊँचा रखो । सिर ऊँचा रखो; यानी सिर नीचा न करो ।

सिर नीचा न करो; क्योंकि सिर को नीचा करना पाप है, पर सिर नीचा न करें, तो माता-पिता के चरण कैसे छुएँ, देव-वन्दना कैसे करें ? वहाँ सीमा का प्रश्न था, यहाँ उद्देश्य का प्रश्न है ।

'सिर नीचा करना' एक प्रतीक है : लज्जा का, दीनता का, साहस-भंग का, निश्चय की शिथिलता का, लघुता की स्वीकृति का ।

राधेश्याम ने चोरी की, पकड़ा गया, अब उसकी आँखें ऊपर उठतीं ही नहीं । लज्जा ने सिर नीचा कर दिया । प्राचीन-काल का एक दृश्य है : महाराज बाहर से अचानक महल में आ गये; चारों तरफ़ सन्नाटा छा गया, जो बाँदी जहाँ थी, वहीं नीचा सिर किये खड़ी रह गयी । महाराज

ने किसी से कुछ नहीं कहा, वे उनकी ओर बिना देखे ही निकल गये, पर आँखें किसी की नहीं उठीं, यह दीनता का बोधक है।

दस सिपाही क़तार में खड़े हैं, बेहद थके हुए हैं। सेनापति पूछ रहा है : कोई उस पहाड़ी पर जा सकता है? चौबीस मील की चढ़ाई है, सिपाहियों का साहस भंग हो गया, सिर नीचा हो गया। ऊँचा सिर करके एक ने कहा : मैं जाऊँगा। सेनापति ने कहा : शाम से पहले पहुँचना है। सिपाही का सिर नीचा हो गया, यह निश्चय ही शिथिलता है। माता-पिता और देवता के चरणों में सिर झुकाना भी लघुता की स्वीकृति है और राजा मानसिंह का मुग़ल-सिंहासन के सामने सिर झुकाना भी। उद्देश्य और भावना ने एक को पवित्रता दी है और दूसरे को हीनता। लज्जा, दीनता, साहस-भंग, अनिश्चय और लघुता ये मानवता का शोषण करनेवाली जोंकें हैं, जो हमारे व्यक्तित्व का रक्त चूसकर उसे खोखला बना देती हैं। इनसे हमें निरन्तर युद्ध करना है। इसी युद्ध का नारा है : 'सिर नीचा न करो।' इसी नारे का फलितार्थ है : 'सिर ऊँचा रखो।'

ओह, विचारों की गंगा में कहाँ से कहाँ बह गया, बात तो इतनी ही है कि रात तकिया ऊँचा था।

□

जी, आप तो अपने ही हैं !

बात मुँह से कही जाती है, मुँह पर कही जाती है और मुँह देखकर कही जाती है। उस दिन याद है न आपको उस मीटिंग में मालवीय जी महाराज बोल रहे थे कि बिजली बुझ गयी और बिजली गुप्प, तो माइक चुप्प; पर वाह क्या गला था मालवीय जी का और क्या फेफड़े कि उस उतनी बड़ी सभा में भी उनकी दहाड़ सबके कानों तक पहुँचती रही। अरे भाई, सचमुच वे तो शेर थे अपने समय के !

बड़ा शानदार भाषण रहा उस दिन का और तालियों की गड़गड़ाहट से आसमान गूँज-गरज गया, पर जब सभा से लौटे, तो याद है आपको चौधरी बलराम ने रास्ते में क्या कहा था ?

"हूँ, क्या कहा था ?"

वाह, सबसे ज्यादा तो ठहाका मारकर उनकी बात पर आप ही हँसे थे और आप ही भूल गये ? रास्ते में हम सब लोग जलसे की तारीफ़ों के पुल बाँधने लगे, तो चौधरी साहब बोले : "देखो जी, जहाँ तक मालवीय जी महाराज के लेक्चर की बात है, सो जो कहो थोड़ा है, पर जो जलसे की बात पूछो, तो जमा तो खूब था, पर बिजली ने दाल में किरकल कर दी।" और तब अपनी बात पर स्वयं ही टीका-सी करते हुए चौधरी साहब बोले : "भाई, लाख अच्छे हों लेक्चर में, पर जबतक बोलनेवाले का मुँह न दिखाई दे, मजा नहीं आता।"

चौधरी साहब के अनुभव की छाया में ही तो मैं कह रहा हूँ आपसे कि बात मुँह से कही जाती है, मुँह पर कही जाती है और मुँह देखकर कही जाती है। वैसे बात कही जाती है, मुँह फेरकर भी, पर वह बात

होती है ग़ुस्से की, ताने-तनाज़े की और लाज-शरम की। बात-चीत असल में मुहब्बत-प्यार की राह-सड़क है और इसका ग़ुस्से या ताने-तनाज़े में उपयोग ऐसा ही है, जैसे हथियार बने तो होंगे कभी अपने को बचाने के लिए ही, पर आज हैं वे भयानक युद्धों के महासाधन !

पर ख़ैर, जीवन में ग़ुस्सा भी है, प्यार भी है और हाँ, प्यार-मुहब्बत की एक बात है वो, जो मुंह झुकाकर, आँख नीची करके कही जाती है और दूसरी है वह, जो कही तो जाती है मुसकराकर और शान्ति से ही, पर उसका मन्शा होता है दूसरे को धोखा देना; निश्चय ही इस ढंग से कि वह धोखा खा जाये, पर बुरा न माने !

आप तो जानते ही थे लाला रामसहाय को ? हाँ, हाँ वे ही मंगलपुरा-वाले। पिछले साल बेचारे परमात्मा के प्यारे हो गये, पर ख़ैर कोई दुःख की बात नहीं। तिरासी वर्ष की उमर इस युग में तो सवा शताब्दी है। संसार का सब सुख भोग लिया और सब कुछ छोड़ गये, ऐसी जिन्दगी और मौत भगवान् सबको दे।

बड़े ही भले आदमी थे बेचारे लाला रामसहाय। मेरे बड़े भाई के विवाह की बात है कि पिता जी एक परेशानी में फँस गये, बात यह हुई कि भाई का रिश्ता जहाँ उन्होंने किया, वे पहले से अपने रिश्तेदार हो थे। कभी तो बेचारों की हालत ऐसी थी कि थान से कभी गाय-भैंसें नहीं हटीं और दरवाज़े से घोड़ा, पर लक्ष्मी चंचला है। दो-तीन वर्ष हुए झटका खा गये और बस अब इज्ज़त सँभाले बैठे हैं। पिता जी से उन्होंने कुछ छिपाया नहीं, पर पिता जी ने सुना, तो उन्हें गले से लगाया और धीरज देकर कहने लगे : "ग़रीबी-अमीरी तो महाराज, आती-जाती लहरें हैं। लड़का आपका है और लड़की मेरी है। चार सेर चावल उबाल लेना सब काम हो जायेंगे। जाओ, फ़िकर मत करो।"

वे बेचारे बेफ़िकर हो चले गये, पर बात यह उन दोनों के ही बीच रही और यहाँ एक झमेला खड़ा हो गया। पिता जी ने अपने अन्दाज़ से लोगों को बारात में चलने को कहा, पर उनसे बिना पूछे चाचा जी न

अपनों से कह दिया और सबसे बड़े भाई साहब ने भी। अब जो तीनों लिस्टें मिलायी गयीं, तो कोई ढाई सौ नाम बैठे और अभी रिश्तेदार, घरवाले और नौथारी अलग!

इस शताब्दी के आरम्भिक वर्षों की यह कहानी है। उन दिनों बड़ी लम्बी बारातें चढ़ा करती थीं। जात-बिरादरी मेल-मुलाक़ात में जिसे न टोको, वही बुरा मानता था। फिर मुसीबत यह कि गरमी का मौसम और हरद्वार की बारात, मुफ़्त में तीर्थ-यात्रा; कौन चूकेगा इस पुण्य अवसर को और यों यह कोई तीन सौ आदमियों का क़ाफ़िला तैयार!

पिता जी ने लाला रामसहाय से अपनी परेशानी कही, तो वे हँस पड़े: "वाह पण्डित जी, यह भी कोई परेशानी की बात है। तीन सौ के तीन सौ को टोक दूँ और आप चालीस चाहें तो चालीस और चार चाहें तो चार ही चलें।"

पिता जी ने कहा: "यह तो ठीक है लाला रामसहाय, पर जात-बिरादरी के सब रूठ बैठें तो क्या होगा?"

उछलकर लाला जी बोले: "कोई रूठ गया, तो फिर हमारी बात क्या हुई? बात तो तभी है कि रूठे कोई नहीं और जूते में पैर भी किसी का न पहुँचे।"

दूसरे दिन लाला रामसहाय पिता जी को लेकर निकले और पण्डित जी अनोखेलाल के घर पहुँचे। बिरादरी में अनोखेलाल मशहूर अकड़् खाँ थे। इधर-उधर की बात करके लाला जी उन्हें जगह पर लाये और बोले: "ये पण्डित जी एक झमेले में फँस गये हैं। इसीलिए हम आपके पास आये हैं। आप तो अपने ही हैं, आपसे क्या छिपाव। आप जानें; हरेक से तो ऐसी सलाह हो नहीं सकती।"

इस भूमिका के बाद बोले: "हमने तो इन्हें यह सलाह दी है कि भाई अपनों-अपनों के नाम काट दो। बात यह है अनोखेलाल जी कि जिस गैर का नाम काटोगे वही बुरा मानेगा। आप तो शहर के सबसे बुद्धिमान् आदमी हैं, क्या राय है आपकी?"

अपनेपन के इस रिश्ते पर नयी वारनिश करते-से बोले : "राय बावन तोले पाव रत्ती ठीक है और सबसे पहले मेरा नाम छोड़ दो इसमें से।"

रामसहाय और पिता जी दोनों चिल्ला पड़े : ना-ना, यह कैसे हो सकता है, आपके चलने से तो हमारी शोभा हो है।"

गरज़ यह कि पण्डित अनोखेलाल का नाम कट गया और एक सप्ताह के बाद जो लिस्ट देखी तो उसमें पचपन नाम थे, क्योंकि लाला रामसहाय एक सप्ताह में पिता जी, चाचा जी और बड़े भाई साहब, तीनों के ही साथ घूमे और सबको बूटी पिला आये : "अजी, आप तो अपने ही हैं" और यह बूटी इतनी कामयाब रही कि सब मान गये कि वे अपने ही हैं और फिर भी अपने से सौ कोस दूर रहे। बारात में एक न जा सका।

तभी तो कह रहा हूँ आपसे कि प्यार-मुहब्बत की एक बात है वो, जो कही तो जाती है मुसकराकर और शान्ति से ही, पर उसका मतलब होता है दूसरे को धोखा देना; निश्चय ही इस सफ़ाई के साथ कि वह धोखा तो खा जाये, पर बुरा न माने।

बारात की इस घटना के कोई पचास वर्ष बाद अभी उस दिन हमारे ही एक दोस्त ने हमें यह घूँटी इस सफ़ाई से पिलायी कि हम देखते रह गये।

शमशेर है हमारा पुराना लँगोटिया। साथ रहे, साथ पढ़े, साथ घूमे, साथ काम किया। जाने कितने खेत हमने साथ नापे और कितनी सड़कों की धूल साथ चाटी, पर क़िस्मत की बात कि पट्ठे ने राजनीति में ऐसी छलाँग मारी कि देखते-देखते हुकूमत की एक शानदार कुरसी पर बैठा नजर आया। अखबारों में उसके दौरानों की खबरें पढ़ने के बाद जब वह खुद एक बार अपने शहर में आया, तो हम भी उससे मिलने गये। डाकबँगले में वह ठहरा था और क्या कहूँ उसकी शान के। चमकदार रंगीन वर्दियों के अरदली अदब से घूम रहे थे और मिलने के लिए आये हुए बड़े लोग नम्बरवार बैठे थे। भला हमारा क्या नम्बर, हमारा तो वह पुराना दोस्त था, पर अरदली ने हमें भीतर घुसने नहीं दिया और कार्ड

ले लिया ।

बहुत देर हो गयी किवाड़ ही न खुले । अरदली से पूछा, तो बोला : "किसी खास दोस्त से मुलाक़ात कर रहे हैं साहब । अभी उनके लिए चाय मँगायी है । वे चाय पी लें, तो आपका कार्ड दूँगा ।"

हमने सोचा : हमसे बढ़कर उस गधे का और खास दोस्त कौन है, जिससे वह कमरे में घुसा यों घुटुर-घूँ कर रहा है, पर हम अपने से सवाल ही पूछ सकते थे, कुछ जवाब तो दे ही न सकते थे । मन मसोसे इन्तजार कर रहे थे; करते रहे ।

कोई आध घण्टे बाद अपने रोबीले मुँह को गर्वीला बनाये हुए कमरे से ठाकुर नौनिहाल सिंह निकले । वे भीतर से निकले, तो मैं जैसे पहाड़ से गिर पड़ा । मुझे याद आ गयी वह सन्ध्या, जिसमें इन्हीं ठाकुर साहब ने अपने गाँव में जलसा करने पर मुझे और शमशेर को अपने आदमियों से अपने सामने पिटवाया था । मैंने टटोलकर अपनी पसलियों को देखा, तो आज भी उनमें उस मरम्मत की कसक थी ।

भीतर कमरे में जाते ही जल-भुनकर मैंने शिकायत की तो मुझे लिपटकर शमशेर साहब बोले : "अजी भाई साहब, आपकी क्या बात; आप तो अपने ही हैं । इन गधों से मैं इसलिए मिलता-जुलता हूँ कि पार्टी को इन लोगों की ताक़त मिलती रहे ।"

सुनकर मुझे हँसी आ गयी । मैंने मन ही मन कहा : क्यों भाई, यह लाला रामसहाय का पचास वर्ष पुराना जुशान्दा तू मुझे पिला रहा है और तब वह बारातवाली बात ज्यों की त्यों मेरी आँखों में घूम गयी ।

बात यह है कि हर पुस्तक में एक भूमिका होती है, हर जलसे में प्रमुख वक्ता के भाषण से पहले कुछ गाने या कविता पढ़वाने की प्रथा है और जो भी किसी के पास अपने किसी काम से जाता है, पहले ऐसी बात करता है जिससे उसका मन बहले और वह प्रसन्न हो ।

"भला यह क्यों ?"

यह इसलिए कि हँड़िया में दूध डालने से पहले हम उसे धोते हैं,

पोंछते हैं, साफ़ करते हैं। बस यही बात है इसमें भी।

आप मेरी बात शायद पचा नहीं पाये, तो लीजिए, मैं उसे नये रूप में आपसे कह दूँगा। पुस्तक में भूमिका इसलिए लिखी जाती है कि पाठक के मन को वह पुस्तक के लिए एक जिज्ञासा दे दे, गाने और कविताएँ इसलिए कि उस भाषण के लिए जनता खिंच आये और मतलब की बात से पहले चिकनी-चुपड़ी इसलिए कि दूसरे का मन मुलायम हो। इसी तरह हँड़िया की धुलाई-सफ़ाई इसलिए कि उसकी खटास दूध को फाड़ न दे।

तो हम जब किसी से कुछ ऐसी बात कहना चाहते हैं कि जो स्वयं हमारी निगाह में ही ठीक नहीं है, तो उसके लिए हवा तैयार करते हैं, जिसमें वह बेठीक बात उसे पच जाये। आप तो अपने ही हैं, इसका मतलब है कि आप पर मेरा विशेष अधिकार है। यहाँ तक कि मैं एक अनुचित बात भी कहूँ, तो आपको वह माननी पड़ेगी और यह बात मैं आपसे इसीलिए तो कह रहा हूँ; वरना बात तो यह ऐसी है कि किसी ग़ैर से कही जाये, तो वह लड़ पड़े—नाराज़ हो जाये!

अब बताइए कौन बेवक़ूफ़ है, जो इस दीवार को लाँघकर कहे कि नहीं साहब, मैं आपका अपना नहीं हूँ, मैं तो ग़ैर हूँ, और इसलिए नाराज़ हूँ। कोई इसके लिए तैयार नहीं है और इसलिए जेब कटती देखकर भी मुँह फेर लेने में ही भलाई दिखाई देती है।

आदमी आदमी को धोखा देता है यह सच है, पर इससे भी बड़ा सच यह है कि आदमी सबसे अधिक धोखा अपने को देता है और उसका भी एक मन्त्र यही है : अजी आप तो अपने ही हैं।

"वाह, यह ख़ूब कही आपने कि यह अपने को धोखा देने का भी मन्त्र है।"

ओहो, ख़ूब और बेख़ूब क्या थी इसमें, यह तो एक खुली बात है और फिर खुली-बेखुली की क्या बात, लीजिए, देख ही जो लीजिए।

भाई रघुनन्दन जी हमारे गहरे मित्र हैं। हमदर्दी के हिमालय; तो काम के कैलास ! आप पर जान दे दें और अपने को भूले आपके ही काम में जुटे रहें, पर मुसीबत यह है कि ब्रह्मा जी ने किसी को भी बिना अधूरा किये नहीं छोड़ा। बेचारे रघुनन्दन जी भी ज़रा पेट के पतले हैं, बात पेट में खपती नहीं है। कहीं किसी की कुछ सुनें, तो चार से कहे बिना चैन नहीं पाते।

उस दिन मेरे पड़ोसी रामशरण जी के यहाँ से आये, तो मेरे पास को सरककर और अपनी बुलन्द आवाज़ को खुद ही धीमी करके बोले : "भाई साहब, आप तो अपने ही हैं, आपसे क्या छिपाव, किसी और से तो मैं कह नहीं सकता, पर आप तो अपने ही हैं। सुना है आपने कि पुलिस को यह पता चल गया है कि रामशरण चोरों से माल खरीदकर धन कमाता है और अब वह उसके पीछे पड़ी है।"

मैंने उन्हें धमकाया कि क्यों अपनी आदत के अनुसार तुम दूसरों की बातें इधर-उधर उड़ाते फिरते हो, तो बोले : "मैं किसी और से थोड़े ही कहता फिरता हूँ। बस आपसे ही कहा है और आप तो अपने ही हैं।"

मैं जानता हूँ कि रघुनन्दन जी लाख कहें, मेरी कोई बात वे जान लें, तो उसे भी घर-घर गायेंगे और उन सबको अपने बनाते फिरेंगे। बात वही है कि अपना दोष अपने से छिपाने के लिए वे इस मन्त्र का जाप करते हैं।

इनसान, एक अजीब जानवर है, जो दूसरों को ही धोखा नहीं देता, स्वयं अपने को भी धोखा देता है और यह सब इस सफ़ाई के साथ कि धोखे की चोट इतनी गहरी न हो जाये कि आदमी उफन पड़े और उसे सहने से इनकार कर दे।

और हाँ देखिए, ये सब किसी से कहने की बातें नहीं हैं, फिर भी आपसे कह रहा हूँ, क्योंकि आप तो अपने ही हैं।

□

वे दो चेहरे : एक देखा, तो दूसरा अनदेखा

कुम्भ में, कुछ लोग कहते हैं बीस-पचीस लाख आदमी आये थे और कुछ-कुछ की राय है पन्द्रह-बीस लाख; दोनों में किसकी राय ठीक है, मैं नहीं जानता, पर इतना जानता हूँ कि दस लाख से कम आदमी वहाँ नहीं थे।

दस लाख आदमियों के दस लाख चेहरे और कमाल यह कि दस के दस लाख चेहरे एक-दूसरे से अलग। कुदरत का यह सचमुच कमाल ही है कि दुनिया का हर चेहरा एक-दूसरे से भिन्न है और उसके गले की आवाज भी।

क्यों जी, अगर दुनिया में हर आदमी का चेहरा और आवाज एक ही तरह की होती, तो क्या होता ?

होता क्या, एक घपला मच जाता, कोई किसी को न पहचानता और तब आदमियों की हालत भी जानवरों-जैसी हो जाती कि मिले-मिले, न मिले तो न मिले। सचाई यह है कि तब दुनिया में सभ्यता का जन्म ही न होता।

और लो, यहीं एक बात बताऊँ आपको। बात क्या है ज्ञान का भण्डार है कि यदि कुदरत हर आदमी का चेहरा और आवाज अलग न बनाती, तो सभ्यता का जन्म ही न होता, इस बात का असली मतलब यह हुआ कि अनेकता, विविधता और एक से दूसरे की विचित्रता के कारण ही संसार में सब प्रकार की उन्नतियाँ हुई हैं।

देखते नहीं आप कि चेहरों और स्वरों की भिन्नता से भी दुनिया का काम नहीं चला और उसने एक और भिन्नता को जन्म दिया। वह भिन्नता

है नामों को। इस तरह अब हरेक चेहरा और आवाज ही एक-दूसरे से भिन्न नहीं, नाम भी भिन्न हैं।

इससे कार-व्यवहार में सुभीता होता है इसमें सन्देह नहीं, पर एक बात है कि इससे आदमी की एक परेशानी भी बढ़ गयी है और वह परेशानी है इन चेहरों को याद रखने की। हर चेहरा अलग, हर आवाज अलग, हर नाम अलग; अब आदमी किस-किसको कैसे याद रखे!

न रखे याद, क्या कोई जरूरी है हर देखे चेहरे का याद रखना? बात ठीक है, पर याद न रखने से भी तो काम नहीं चलता। अकसर ऐसा होता है कि इस याद न रखने से बड़ा झमेला खड़ा हो जाता है।

अभी उस दिन एक सज्जन मेरे कार्यालय में धमाके के साथ आकर खड़े हो गये। हँसी की बात नहीं, सचमुच धमाके के साथ और लगे हैलो-हैलो करने, जैसे मेरे कोई लँगोटिया यार हों। अब वे उँडेले डाल रहे हैं दोस्ती के लच्छे और मैं सकपकाया हुआ कि हे भगवान्, यह आखिर है कौन?

स्मृतियों के चौराहे पर मैंने जाने कितने चक्कर काटे, याद का घोड़ा जाने कहाँ-कहाँ घूम आया, पर उनका अता-पता ही न हाथ लगा। रिश्तेदारों की सारी लिस्ट भीतर ही भीतर कई बार खदरौल डाली, दोस्तों की बही के पन्ने उलट गया, पर उनका नाम कहीं दिखाई न दिया। स्कूल-कॉलेज में तो कभी पढ़ने का मौक़ा ही जीवन में न आया, इसलिए क्लास-फ़ेलो की सूची मेरे पास कहाँ होती, पर हाँ, पिछले सालों में दो-तीन बार जेल काटना क़िस्मत में लिखा था, इसलिए जेल-फ़ेलो की लिस्ट दिमाग़ में है, उसे भी टटोल गया, पर ये हजरत कहीं उसमें भी दिखाई न दिये।

अब हाल यह है कि वे उफने पड़ रहे हैं और मैं बच-बचकर बातें किये जा रहा हूँ, पर देखता हूँ उनका सामान भी मेरी मेज के सामने ही रखा है — कई छोटी-बड़ी अटैचियाँ, बड़ा-सा बिस्तर, खाने की टोकरी, थर्मस, और भी बहुत कुछ।

सोचा : यह जांगलू कहाँ से आ कूदा है, यह पता चले, तो शायद अन्दाज की बेल फैले और पूछा : "कहिए जनाब, इस साजो-सामान के साथ कहाँ से आ रहे हैं ?"

बोले : "मसूरी गया था। वृक्ष-शास्त्र में मेरी दिलचस्पी है। तुम्हारे शहर का सरकारी बाग़ देखना था। सोचा : तुमसे भी मुलाक़ात हो जायेगी, बहुत दिन हुए मिले और बाग़ भी देख लूँगा। बस इधर से निकल आया।"

साफ़ है कि मेरा यह निशाना भी खाली गया। मैंने दूसरा साधा और पूछा : "तो घर पहुँचने से पहले और कहाँ-कहाँ के बाग़ देखने हैं ?"

बोले : "बस, अब तो सीधा बीकानेर ही जाऊँगा, बहुत दिन हो गये घर से निकले।"

इस जवाब से इतना पता चला कि ये बाबू जी बीकानेर के निवासी हैं, पर मुझे इसी जन्म में कहीं मिले थे या पहले जन्म की मुहब्बत इन्हें यहाँ खींच लायी है, यह मसला अब भी एक रहस्य ही रहा।

मेरे बेटे ने यह बात ताड़ ली और मैं उठकर बाहर गया, तो उसने इस रहस्य का भेद खोल लिया कि ये महाशय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के किसी अधिवेशन में मुझे मिले थे और वहाँ हम दोनों साथ रहे थे, एक ही कमरे में या पास-पास के कमरों में।

खैर, इज्जत बच गयी, बात बिगड़ते-बिगड़ते रह गयी और अब मैं उनसे खुलकर बातें कर सका, पर चेहरे को याद रखने का मसला तो इससे हल नहीं होता, क्योंकि न तो ऐसा होशियार बेटा ही भगवान् ने सबको दिया है और न मैं अपने बेटे को अपना 'चेहरा-पहचान-मन्त्री' बनाकर हर समय अपने साथ ही रख सकता हूँ।

फिर यह भी तो नहीं कि चेहरा पहचानने की जरूरत मेरे कार्यालय में ही पड़ती है। उस दिन रेल में वे देहाती सज्जन मिल गये और मिलते ही बोले : "मौसा जी, नमस्ते !" मैं नहीं जानता कि मौसा के जोड़-तोड़ क्या हैं और कौन-कौन किस-किसका मौसा होता है, फिर भी कहना

पड़ा : नमस्ते भैया !

कहना पड़ा और कह भी दिया, पर बात-चीत की गाड़ी हमारे देश में यों ही तो नहीं रुक सकती। वे बोले : "मौसी जी तो अच्छी हैं ?"

अब मैं क्या जवाब दूँ उन्हें, क्योंकि यदि मौसी जी का अर्थ मौसा जी की पत्नी ही है, तो उस सौभाग्यवती को स्वर्ग सिधारे बरसों बीत चुके, पर स्वयं पत्नी-विहीन होकर भी मैंने उन्हें मौसी-विहीन करना उचित न समझा और कहा : "जी, आपकी कृपा से सब कुशल हैं।"

बोले : "फिर तो आपके दर्शन ही नहीं हुए। हमारे यहाँ तो सब आपको हमेशा याद करते हैं !" मैं बह पड़ा था, तो बहना ही था, कहा : "यह सब आपकी कृपा है।"

गाड़ी धीमी पड़ी, वे उठ खड़े हुए। चलते-चलते बोले : "अगली तीजों पर जरूर आना मौसा जी और मौसी जी को भी जरूर साथ लाइयो !"

वे चले गये, पर मैं सोचता रहा कि आज मैं यों किसका मौसा जी बन गया और अगली तीजों पर मुझे किसका आतिथ्य ग्रहण करना है ? पता नहीं वे बेचारे चेहरों की वैरायटी शो में घूम रहे थे या मैं ही नालायक मौसा निकला कि उनके चेहरे की याद न रख सका !

कुछ भी हो चेहरों का चक्कर बड़ा विकट है और देखे हुए चेहरों को याद रखना आसान नहीं, पर यह कैसी बात है कि चेहरों की इस भूल-भुलैया में कुछ ऐसे भी चेहरे सामने से गुजरते हैं कि उन्हें भूलना फिर हमारे बस की बात नहीं होती – वे आँखों की राह शायद हमारे दिलों पर नक़्श हो जाते हैं, खुद जाते हैं कि बिना चाहे और बिना कोशिश किये भी हमें याद आते रहते हैं, और भले ही हम भुलक्कड़ हों और उन्हें भी भूल जाते हों, जिनके हम नक़द मौसा जी हैं, पर उन्हें भूल नहीं पाते !

ऐसे ही दो चेहरों की कहानी मैं आज आपको सुनाना चाहता हूँ। शायद आप भी उन्हें भूल न पायें !

हमारे नगर के हाई स्कूल में एक प्रधानाध्यापक आये तो उनका नाम

जनता के लिए पड़ गया : बंगाली हेडमास्टर। बात यह कि वे बंगाल के निवासी चट्टोपाध्याय थे, पर थोड़े दिनों में ही उनका नाम बदल गया और उन्हें सब कहने लगे : झुनझुनेवाला हेडमास्टर!

झुनझुना एक छोटा-सा खेल; जो गोद के बच्चों को बहलाने के काम आता है; क्योंकि इस झुनझुने में एक आवाज होती है : झुन-झुन-झुन और बच्चों का मन उसमें उलझ जाता है। झुनझुनेवाला हेडमास्टर; भला यह नाम हमारे उन हेडमास्टर महोदय का क्यों पड़ गया?

प्रश्न उचित ही है, क्योंकि सभी जानते हैं कि हाई स्कूल में दूध पीते बच्चे तो पढ़ते नहीं कि प्रधानाध्यापक जी के लिए झुनझुना जेब में रखना भी एक जरूरी जिम्मेदारी समझी जाये कि बालक कुनकुनाया और उन्होंने खनखनाया! फिर किसी हाई स्कूल के हेडमास्टर का यह लोक नाम क्यों, कैसे?

बात यह थी कि हमारे हेडमास्टर साहब जरा टिपटॉप आदमी थे। वे इस बात को बहुत नापसन्द करते थे कि जो चीज़ उन्होंने जहाँ रख रखी है, उसे कोई इधर-उधर सरका दे और हमारे यहाँ ऐसे आदमी बहुत कम हैं जो चीज को देखकर ज्यों को त्यों रख सकें, तो बस जहाँ किसी ने चट्टोपाध्याय जी की चीज छुई कि वे छछूंदर हुए!

अन्दाजन ऐसा मालूम होता है कि वर्षों यह प्रयत्न करने पर भी कि लोग उनकी चीजें न छुएँ और छुएँ तो ज्यों की त्यों रख दें, जब उन्हें सफलता न मिली तो उन्होंने झुनझुने का आविष्कार किया।

झुनझुने का आविष्कार? हाँ जी, झुनझुने का आविष्कार! देखिए, मेरा मतलब यह न समझिए कि मैं यह कह रहा हूँ कि झुनझुना इस देश में था ही नहीं। उसे पहले-पहल चट्टोपाध्याय ने ही खोज निकाला। मेरा मतलब यह है कि उन्होंने झुनझुने का एक नया प्रयोग आरम्भ किया।

उन्होंने एक बहुत खूबसूरत प्लास्टिक का बना जापानी झुनझुना खरीद लिया। तीन उसमें घुँघरू और तीन ही रंगीन रिबन। अब झुनझुना उनकी मेज की दराज में और वे काम में लीन। स्कूल के एक

बालक का पिता उनके पास आया कि मेरे लड़के की फ़ीस माफ़ कर दीजिए। उन्होंने क्लर्क को बुलाया कि वे स्थिति समझें, इतने में वे सज्जन उनकी मेज़ पर रखे पेपरवेट को उठाकर यों ही देखने लगे। पेपरवेट एक पेपरवेट, फिर उसका उठाना क्या, देखना क्या, पर आदत हम लोगों की।

बस उन्होंने एक पेपरवेट उठाया कि चट्टोपाध्याय ने दराज़ खींचा और वह झुनझुना निकालकर उनकी ओर बढ़ाया "लीजिए, इससे खेलिए, वह तो एक मामूली पेपरवेट है!"

अब एक अजब दृश्य कि मेज़ के इधर प्रधानाध्यापक चट्टोपाध्याय और उधर वे सज्जन। चट्टोपाध्याय उनकी ओर अपना झुनझुना उँगलियों में निहायत नज़ाकत के साथ थामे कह रहे हैं, "लीजिए, इससे खेलिए!" और वे सज्जन भौंचक और झेंपे हुए, पर हमारे चट्टोपाध्याय अभी नहीं मानेंगे और अपनी बात नये-नये रूपों में दोहराये जायेंगे: "हाँ-हाँ, लीजिए भी इसमें शरमाने की क्या बात? अरे साहब आप तो नाहक़ शरमा रहे हैं, लीजिए, ज़रा दिल बहलाइए। हाँ जी, बूढ़े और बालक का दिल एक-सा होता है और झुनझुना दोनों के काम की चीज़ है। लीजिए, शौक़ फ़रमाइए। ज़रा बजाइए, तो ताल के साथ, इसमें खेल और संगीत दोनों हैं।"

चट्टोपाध्याय यह सब बारी-बारी से कहे जा रहे हैं और नये-नये ढंग से झुनझुना भी बजाते जाते हैं। वे बढ़ रहे हैं, नये-नये तरह का मुँह बना रहे हैं और सामनेवाला इस हालत में है कि न पेपरवेट नीचे रख पा रहा है, न कुछ कह ही — बस झेंप में डूबा शायद सोच रहा है कि हे भगवान्, आज कहाँ आ फँसा!

बस चट्टोपाध्याय ने दो-चार को ही अपने झुनझुने से खिलाया था कि वे बंगाली हेडमास्टर से झुनझुनेवाला हेडमास्टर हो गये। उन्हें हमारे नगर से गये कई युग गुज़र गये, पर जब भी कोई मेरी मेज़ की चीज़ों को ख़ामख़ा छूता या इधर-उधर करता है, उनका चेहरा मुझे याद आ जाता

हूं और मैं अनुभव करता हूं कि वे इस आदमी को अपना झुनझुना दिखाकर कह रहे हैं : "हाँ हाँ, लीजिए, शौक़ फ़रमाइए। अरे साहब, आप तो नाहक़ शरमा रहे हैं, लीजिए, ज़रा दिल बहलाइए।"

मेरा ख़याल है कि देखे बिना ही हमारे हेडमास्टर का चेहरा अब आपको भी अकसर याद आया करेगा।

सचाई यह है कि इस दुनिया में जहाँ हर चेहरे की रंगत अलग है, चेहरों को याद रखना बहुत मुश्किल है, पर कुछ चेहरे ऐसे हैं कि हम उन्हें याद रखना चाहें, या न चाहें, उन्हें हम भुला ही नहीं सकते। ऐसा मालूम होता है कि आँखों की राह हमारे हृदय पर वे अपना शासन जमा लेते हैं। ऐसे एक चेहरे की कहानी अभी मैं आपको सुना रहा था। लीजिए, इस दूसरी कहानी में एक और कमाल है कि यह जो दूसरा चेहरा मुझे अकसर याद आता है और जिसे मैं भुला नहीं पाता, उसे मैंने कभी देखा नहीं है।

"वाह, जो चेहरा आपने देखा ही नहीं वह आपको याद कैसे आता है?" प्रश्न ठीक, पर उसका उत्तर मैं दे चुका हूं कि यह एक कमाल है, सचमुच यह एक कमाल है, पर ऐसा कमाल नहीं कि समझ ही न आये। लीजिए, आप यह कहानी सुन जो लीजिए।

मेरे नगर में एक ढाबा है। कभी-कभी मुझे भी वहाँ रोटी खाने के लिए जाना पड़ता है। पिछली लड़ाई के दिनों की बात है — मौसम सर्दी का था। मैं एक दिन वहाँ तक गया, तो ढाबेवाले पण्डित जी परेशान थे और किसी को लगातार गालियाँ दे रहे थे। उनके हाव-भाव से मैं जान गया कि जिसे गालियाँ दे रहे हैं, वह इस समय उनके सामने नहीं है। मामले को समझने के ख़याल से मैंने पूछा : "क्या बात है पण्डित जी, किस पर नाराज़ हो रहे हो?" बोले : "तीन-चार दिन हुए एक नौकर रखा था, आज चोरी करके भाग गया।" और फिर उसके नाम पर उन्होंने बहुत-सी गालियाँ दे डालीं। मेरे साथ भी बहुत बार ऐसा हुआ है और मैं जानता हूं कि लोग जिस थाली में खाते हैं उसी में छेद करते हैं।

मनुष्य का स्वभाव विश्वासी; वह विश्वास करता है और ठगा जाता है।

घटना को पूरी तरह जानने के लिए मैंने पूछा : "कहाँ हो गयी चोरी ?" जवाब मिला : "अजी, चोरी क्या हो गयी, कमाल हो गया। मैं सुबह शौच गया और कुएँ पर नहाया, बस इतनी देर में जाने कैसे बदमाश ने अलमारी खोल ली और चम्पत हुआ।" इतने में किसी ने पूछ लिया : "बिस्तर-विस्तर तो नहीं ले गया भाई ? आज-कल तो यह मामूली बात हो गयी है।"

जवाब मिला : "मैंने उसे कौन कपड़े दिये हो कहाँ थे, जो ले जाता। एक बोरी दे रखी थी, उसपर पड़ रहता था और अपनी चादर ऊपर लपेट लेता था।"

जवाब सुनकर मुझे बिजली-सी छू गयी। मैंने अपने कपड़े गिने : बनियाइन, स्वेटर, गरम कुरता, बण्डी। मैं दिन में चार कपड़े पहने हुए था और वह लड़का दिसम्बर की रात में एक चादर लपेटकर सो जाता था। उसे कैसी मीठी नींद आती होगी !!!

तभी आ गया पण्डित का लड़का—वह पुलिस में रिपोर्ट लिखाने गया था। पण्डित जी ने उससे पूछा : "अरे भाई, अलमारी खोलकर देख तो, कितने रुपये की चपत लगी ?"

लड़के ने अलमारी खोली, हिसाब का परचा देखा और तब कहा : "बापू, इसमें छब्बीस रुपये थे अब पन्द्रह रुपये हैं। कम्बख्त ग्यारह रुपये ले गया।" यह सुना, तो एक नया सवाल खड़ा हो गया कि जब उस लड़के ने अलमारी खोल ही ली, तो वह ग्यारह रुपये ही क्यों ले गया ? ये बाक़ी पन्द्रह रुपये लेने में उसे क्या दिक़्क़त थी ?

इससे एक दिन पहले ही मैं अपने पास रहते एक लड़के के लिए ग्यारह रुपये में कण्ट्रोल का एक कम्बल खरीदकर लाया था। अचानक मेरे मन में आया कि क्या उस लड़के ने कम्बल के लिए ही ग्यारह रुपये निकाले ?

मैं खाना खाकर कण्ट्रोल की दुकान पर गया, तो पता चला कि

आज एकदम सुबह फटे कपड़ों में एक लड़का कम्बल खरीदकर ले गया है। मेरा अनुमान अब विश्वास में बदल गया और यह घटना मेरे लिए अब एक ग़रीब, अनपढ़ और असहाय भारतवासी के चरित्र का नमूना हो गयी।

अब जब भी कहीं किसी चोरी या चोर की चर्चा चल पड़ती है, मुझे उस लड़के का अनदेखा चेहरा याद आ जाता है और आप ही मेरा सिर उसके प्रति सम्मान से झुक जाता है। क्या आप इस चेहरे को कभी भूल सकेंगे?

□

ओह, याद ही न रहा !

मेरे एक मित्र हैं जिन्दल साहब। हाँ जी, साहब समझिए उन्हें! अब अँगरेज़ तो चले गये हैं और हर भारतीय उनका उत्तराधिकारी—वारिस है, पर जिन्दल साहब उन दिनों भी अँगरेज़ों के गोद लिये बेटे थे, जब १५ अगस्त का स्वप्न कुछ पागलों को छोड़ किसी की भी आँख में न था!

"हूँ, हूँ; अँगरेज़ों ने अपने सम्पर्क से सचमुच एक ऐसा वर्ग बना लिया था, जो नाम-रूप में भारतीय होकर भी मानसिक दृष्टि से अँगरेज़ ही था और अँगरेज़ भी गुणों में नहीं, दुर्गुणों में और हमारी नज़र में उसका सबसे बड़ा दुर्गुण यह कि अपने देश के हितों के विरुद्ध वह अँगरेज़ी राज्य का समर्थक, तो उन्हीं में से एक होंगे ये आपके मित्र जिन्दल साहब ?"

ओह हो, बड़ी खराब आदत है आपमें। मेरी बात पूरी हुई नहीं और जड़ दिया यह प्रश्न का लम्बा पुछल्ला। अरे साहब, बातचीत का क़ायदा यह है कि दो सुनने के बाद एक कहे, पर आपका क़ायदा शायद यह है कि आधी सुनें और ढाई कहें, तभी तो लोग-बाग आपसे बातें करते कतराते हैं, कन्नी काटते हैं और कहते हैं कि आपसे बात करना तो झाड़ी में उलझना है!

मेरे मित्र दुर्गुणों में नहीं, सद्‌गुणों में अँगरेज़ों के वारिस हैं। समय के पाबन्द, जीवन में व्यवस्था के पूरे हामी। आप उन्हें सात बजे सभा में बुलायें, तो पौने सात बजे अपनी मोटर में बैठे नज़र आयेंगे और ड्राइवर मोटर को तेज़ हाँक दे और वह सभा के दरवाज़े पर दो मिनट कम सात बजे पहुँच जायें, तो मेरे मित्र दो मिनट तक मोटर में ही बैठे रहेंगे और ज्यों ही बड़ी सुई बारह को छूती-सी दिखाई देगी कि वे अपनी चादर

सँभालते हुए उतरेंगे और सभा-भवन में प्रवेश करेंगे। बहुत बार ऐसा होता है कि जब वे सभा-भवन में प्रवेश करते हैं, तो तब तक वहाँ उन्हें बुलानेवाले मन्त्री जी भी नहीं पहुँचे होते, पर उन्हें इससे कोई मतलब नहीं—वे कहते हैं कि निमन्त्रण के समय पर पहुँचना हरेक निमन्त्रित का कर्तव्य है। बुलानेवाले की जिम्मेदारी है कि वह समय से पहले पहुँचकर सभा की व्यवस्था करे, पर यदि दूसरे लोग अपनी जिम्मेदारी नहीं निभाते, तो मैं देर से पहुँचने की ग़ैर-जिम्मेदारी क्यों करूँ? और अन्त में वे अपनी सफ़ेद चादर को चतुरता से सँभालते-सँवारते-से कहते हैं: अरे भाई, दूसरों को देखकर मैं अपनी आदत खराब नहीं कर सकता!

समझे आप, ऐसे हैं मेरे मित्र जिन्दल साहब, पर मेरी बात अभी पूरी नहीं हुई, आप सुनते रहिए। मुझे डर है कि आप फिर कहीं बीच में ही न टपक पड़ें। मैं एक दिन उनके घर बैठा बच्चों से बातें कर रहा था कि वे कहीं से झपटे-सपटे-से आये। आदत है उनकी यह कि आयेंगे आँधी-से और जायेंगे हाथी-से। आये, तो श्यामा जी ने कहा: "आज शाम को छह बजे कहीं न जाइएगा।"

अपने गपोलू चेहरे पर उगी नन्हीं मूछों तक मुसकराहट की रेख खींचते हुए-से बोले: "क्यों क्या बात है? सिनेमा चलने का प्रोग्राम मालूम होता है?"

अपने चुन्नू-मुन्नू की तरफ़ देखते हुए श्यामा जी ने कहा: "यहाँ तो चौबीस घण्टे अपना ही सिनेमा नहीं निमटता, दूसरा सिनेमा देखने कहाँ जायें?"

मैंने बात को नया रंग देते हुए पूछा: "तो इस सिनेमा के डायरेक्टर आप ही मालूम होते हैं?"

बहुत गम्भीर-सा मुँह बनाकर बोले: "जी, पिछले पन्द्रह वर्षों में तो मैं ही था, पर जिस दिन भारत की विधान-परिषद् ने यह पास किया कि नर-नारी के अधिकार समान होंगे, श्रीमती जी ने झगड़कर अगले पन्द्रह वर्षों के लिए यह पद मुझसे ले लिया है!"

हम लोग हँस पड़े, तो मित्र ने अपनी पत्नी से पूछा : "अच्छा, तो शाम को घर से बाहर न निकलने की क़ैद लगायी गयी है ?"

"क़ैद क्या होती, आज शाम को आलू के पीठी के परांवठे बनाने का प्रोग्राम है। साथ में आलू-मटर की सब्जी, धनिये की चटनी, गाजर का अचार और बथुए का रायता रहेगा। गरम-गरम खाना। और क्या होता, यही बात है !"

मेरे मित्र ने तभी अपनी डायरी देखी और भड़भड़ाये-से एकदम बोले : "ना, ना, आज हम शाम को नहीं रह सकते। आज तो हमें सेठ जी के यहाँ दावत में जाना है !"

आलू के परांवठों का प्रोग्राम समाप्त हो गया और उसके साथ ही हमारी परांवठे खाने की उम्मीद भी खत्म हुई। हम अपने घर चले आये।

दूसरे दिन प्रातःकाल रामलीला कमेटी के चुनाव के सिलसिले में हम अपने मित्र के घर पहुँचे तो छूटते ही श्यामा जी बोलीं : "भाई साहब, कल तो गाड़ी छूट गयी और बाबू जी प्लेटफ़ॉर्म पर खड़े रह गये !"

क्या हुआ भाई, कौन-सी गाड़ी छूट गयी और कौन-से बाबू जी खड़े रह गये ? मैंने पूछा, तो हँसते-हँसते वे बोलीं : "हमारे बाबू जी मटर-गश्ती में कल सेठ साहब जी की दावत में जाना भूल गये। मुझे खयाल था कि वे नौ बजे लौटेंगे, मैं खाना-दाना कर, ताला लगा, एक विवाह में चली गयी। नौ बजे लौटी तो देखा, बाबू जी अपनी चादर सँवारे दरवाज़े के सामने इधर से उधर और उधर से इधर ऐसे घूम रहे हैं जैसे जेल के बाहर सन्तरी घूमता रहता है। मालूम हुआ कि पेट में चूहे कूद रहे हैं। जल्दी-जल्दी चूल्हा जोड़ा और तब कहीं दस बजे जाकर आँतों को चार गस्से मिले।"

बातचीत खत्म हुई और हम दोनों उठ चले, पर हम दरवाज़े के बाहर निकले ही थे कि क्या देखते हैं, सामने से अपनी नयी मोटर में बैठे सेठ जी चले आ रहे हैं। मेरे मित्र मोटर देखते ही सुन्न हो गये और

बोले : "लो अब आयी आफ़त, बेभाव के पड़ेंगे। सेठ जी ने मुझसे पूछ-कर दावत की तारीख रखी थी और वहाँ मुझे मान्य अतिथियों का परिचय नगर के मित्रों से कराना था — पता नहीं कल वहाँ कैसी भद्द हुई होगी ?"

मित्र की बात बीच में ही थी कि कार उनकी बग़ल में आ लगी और दरवाज़ा खोल सेठ जी नीचे उतरे। मेरे मित्र के काटो तो खून नहीं, पर संकट की पराकाष्ठा सूझ की जननी है। मेरे मित्र इन पलों में मोरचे के लिए तैयार थे। सेठ जी की तरफ़ हाथ बढ़ाते हुए बोले : "आपकी उम्र बहुत होगी। मैं अब आपको टेलिफ़ोन कर पूछने ही जा रहा था कि शाम की दावत के लिए किसी चीज़ की ज़रूरत हो, तो भेज दूँ ?"

सेठ जी ने विस्मय से पूछा : "कैसी शाम की दावत मियाँ ?"

मेरे मित्र भी विस्मय की मुद्रा में ही बोले : "आज शाम को आपके यहाँ दावत है न ! क्यों कैन्सिल हो गयी क्या, पर मुझे तो कोई सूचना नहीं मिली ?"

सेठ जी बोले : "जनाब, आपने पी तो नहीं ली; हमारे यहाँ तो दावत कल शाम थी। आपके न आने से सब चौपट हो गया। आप थे कहाँ ? हमने मोटर भेजी, तो घर में ताला लगा था। सारे सिनेमा हॉल छान मारे, पर कहीं पता नहीं। आखिर तुम जा कहाँ मरे थे !"

मेरे मित्र जैसे अचानक छत स गिर पड़े और एकदम से ऐसे बोले जैसे पैर के नीचे जला कोयला आ जाये—"ऐं ! कल थी आपके यहाँ दावत ?' फिर ज़रा सँभलते-से बोले : "नहीं-नहीं; दावत आज शाम को है, यह आपने खूब बनाया मुझे !"

सेठ जी अपने दिल की दुखन को गले में घोलते हुए-से बोले : "आप मज़ाक़ बताते हैं, सचमुच कल मैं बहुत परेशान हुआ !"

मेरे मित्र उस दुखन को अपने में लेते हुए-से बोले : "तब तो सचमुच यह अजीब ग़लत-फ़हमी हुई।"

सेठ जी के दिलदिमाग पर मुहर-सी लगाते हुए मेरी तरफ़ देखकर मेरे मित्र बोले : "मैं अभी भाई साहब से कह रहा था कि रामलीला कमेटी के काम से आप मुझे जल्दी छुट्टी दे दीजिएगा। शाम को सेठ जी के यहाँ दावत है और मुझे तीन-चार घण्टे पहले पहुँचना है वहाँ !"

सेठ जी ने मेरी तरफ़ देखा। यह बिना कचौरियों के झूठी गवाही देना था। मुझे जोर से हँसी आ गयी, पर मेरे मित्र ने गजब का पैंतरा काटा। मेरे कन्धे पर हाथ मारकर बोले : "हाँ भाई साहब, हँसी की तो यह बात ही है कि मैं १० अप्रैल को ११ अप्रैल समझता रहा।"

मेरे मित्र ने अब ऐसा मुँह बनाया कि आज तक शायद ही किसी अभिनेत्री ने विधवा का अभिनय करते समय वैसा बनाया होगा। उस चेहरे से खिन्न होकर सेठ जी बोले : "अरे भाई, दुःखी होने की इसमें क्या बात है ? भूल-चूक तो आदमी के साथ ही लगी हुई है।"

मामला निमटा, सेठ जी मोटर में चढ़े और हम आगे बढ़े। मेरे मित्र अब बहुत प्रसन्न थे और मैं उनकी प्रसन्नता का रस ले रहा था।

कुछ आगे बढ़े, तो मेरे मित्र बोले : "कहिए कैसी रही ? आपने तो हँसकर चौका ही लगा दिया था, पर मैंने भी वो तरह दी कि गुड़ गोबर होने से बच गया या यों कहिए कि गोबर ही गुड़ हो गया !"

मैंने कहा : "गुड़ तो गोबर होने से वाक़ई बच गया, पर प्रश्न तो यह है कि इस सब मायाचारी की जरूरत ही क्या थी, आप साफ़ कह देते कि भाई, भूल गये हम, माफ़ कीजिए।"

मित्र बोले : "आप आज के समाज को नहीं जानते। सच बोलते ही उनका मुँह लटक जाता या भौंहें चढ़ जातीं और उसका हमारे सम्बन्धों पर भी प्रभाव पड़ता। अब वे भी खुश हैं और हम भी खुश। सबकी खुशी का यह सीधा रास्ता छोड़कर, मैं सबकी नाराजी का बीहड़ पथ क्यों चलूँ ?"

मैंने कहा : "आपकी बात में सचाई है, मानता हूँ। फिर भी सत्य इतनी छोटी चीज नहीं है कि हम उसे इस-उसकी नाराजगियों के मोल

अखेरते फिरें। मेरे सामने यह मसला बहुत बार आ चुका है। आप जानते हैं कि मैं बराबर बीमार रहा हूँ इधर, उससे मेरी स्मृति ज़रा कमज़ोर हो गयी है। अपनी कमी को देखते हुए मैंने तो एक नियम बना लिया है कि निमन्त्रण पर जाने की याद जहाँ भूली कि बस तुरन्त एक पत्र निमन्त्रण भेजनेवाले को खेंचा कि भाई भूल गये थे हम, क्षमा चाहते हैं और जो जगह कहीं आस-पास ही हुई, तो स्वयं आ धमके और कहा कि भाई, कल तो दिमाग़ धोखा दे गया और हम गधे के सींग की तरह नदारद रहे, पर अपना अधिकार हम नहीं छोड़ सकते; लाओ खिलाओ-पिलाओ कुछ बचा-खुचा। बस जम गये और खा-पीकर लौटे। हमारे प्रयोग में डबल फ़ायदा है। अपना यह कि भूली हुई दावत वसूल हुई और मित्र का यह कि वे खुश हो गये कि हमें उनके निमन्त्रण का मान है। अब बताइए कि आपका मन्त्र अमोघ है या हमारा नुसखा तीरे बहदफ़ ?"

मित्र बोले : "आज आपने हमारा अघोर मन्त्र ही काट दिया और मुझे इससे खुशी हुई। आप जानते हैं कि मैं तो गुलामी के दिनों में भी सामाजिक नियमों की पूरी पाबन्दी का क़ायल रहा हूँ, फिर अब तो सौभाग्य से हमारा देश स्वतन्त्र प्रजातन्त्र है। प्रजातन्त्र की सफलता का सबसे बड़ा रहस्य ही यह है कि देश का हरेक आदमी अपने निजी लाभ के सामने समाज के लाभ की अधिक चिन्ता करे। समाज का लाभ इसमें है कि उसके जीवन में अधिक से अधिक सचाई हो और यह सचाई जेल के *अनुशासन की तरह नहीं, आदत की तरह हमारे हर काम में छायी* रहे। इसलिए मैं मानता हूँ कि मित्रों की बुराई लेकर भी हमें अपने जीवन में सत्य की प्रतिष्ठा करनी चाहिए।"

मैंने कहा : "आपके विचारों का मैं सम्मान करता हूँ और आपको धन्यवाद देता हूँ कि किसी का निमन्त्रण स्वीकार करके वहाँ जाना भूल जाना एक इतनी बड़ी कमज़ोरी है कि हम उसे सामाजिक अपराध कह सकते हैं। बात यह है कि किसी कमज़ोरी को कमज़ोरी मानकर उसको

जड़ से उखाड़ने के लिए कमर न कसना जिन्दगी की सबसे बड़ी कमजोरी है। इसलिए निमन्त्रण स्वीकार करके वहाँ ठीक समय पर जाना हम न भूलें, इसलिए भी कुछ उपाय हमें सोचने पड़ेंगे।"

मित्र बोले : "मालूम होता है आपने उन उपायों पर विचार किया है ?"

मैंने कहा : "हाँ, विचार ही नहीं, प्रयोग भी किया है और उससे सफलता भी मिली है।

ये सात उपाय मेरे अनुभव में सर्वश्रेष्ठ हैं :

१. निमन्त्रण मिलते ही यदि वहाँ नहीं जाना है या जाने में सन्देह है, तो तुरन्त इनकारी का पत्र लिख दो।

२. यदि जाना है, तो घर के सब आदमियों से कह दो कि वे याद रखें, और समय पर याद दिला दें।

३. किसी अच्छी याददाश्त के मित्र से, जो वहाँ निमन्त्रित हों, कह दो कि वे आपको अपने साथ लेते जायें।

४. निमन्त्रण देनेवाले से कह दो कि वह आपको उस दिन फिर से याद दिला दे।

५. जहाँ बैठकर आप रोज काम करते हैं, वहाँ एक कागज पर लिख-कर ढंग से लगा दो, जिससे बार-बार याद आता रहे।

६. दावत के दिन जाने के समय का एलार्म लगाकर घड़ी को कहीं अपने निकट रख दो।

७. अपने जीवन के चालू व्यवहार में कोई ऐसा अस्वाभाविक काम कर दो कि वह बार-बार खटकता रहे। मसलन, कुरसी की जगह स्टूल पर बैठो, बूट की जगह खड़ाऊँ पहन लो, आज कोट न पहनो, चश्मा न लगाओ, अपने फ़ाउण्टेनपेन पर फूल बाँध दो, अपने दफ़्तर का ताला बन्द कर दो और बरामदे में बैठकर काम करो। ये चीजें बार-बार खटकेंगी और याद दिलायेंगी।

बात यह है कि निमन्त्रण को मंजूर या नामंजूर करने में आप स्वतन्त्र हैं, पर स्वीकार करने के बाद आप बाधित हैं कि समय पर वहाँ पहुँचें। ऐसा न करके आप अपने को ही विश्वास के अयोग्य सिद्ध नहीं करते, अपने समाज को सामूहिक सुन्दरता का भी ह्रास करते हैं।"

□

जब उन्हें इज़्ज़त मिली !

आपने कभी वंशलोचन देखा है ?

"वंशलोचन ?"

हाँ जी, वंशलोचन, जो गोबिन्द अत्तार के यहाँ भी बिकता है और ज्योती अत्तार के यहाँ भी ।

"बिकता होगा, गोबिन्द अत्तार के यहाँ भी और ज्योती अत्तार के यहाँ भी, मैं भला उसे क्यों देखता फिरता -- क्या आपने मुझे कोई अत्तारों का इन्सपेक्टर समझ लिया है ?"

भाई साहब, इन्सपेक्टर अत्तारों का हो या आवारों का, आजकल खास चीज़ है -- पर ख़ैर, छोड़िए इस बात को -- बात के बढ़ाने में रखा ही क्या है, मैं तो सिर्फ़ आपसे यही पूछ रहा था कि आपने कभी वंश-लोचन देखा है ?

"यों ही पूछ रहे थे, तो पूछिए और मैं भी आपकी पूछ को लीजिए यों ही बूझ रहा हूँ कि हाँ साहब, मैंने देखा है वंशलोचन; सफ़ेद-सफ़ेद होता है ।"

और संखिया भी देखा है कभी ?

"संखिया ? क्या पूछ रहे हैं आप—संखिया, जिसे खाकर पिछले साल जग्गू और बिसम्भर दोनों ऐसे सो गये कि फिर दूसरों के कन्धे ही उठे । वही संखिया या कुछ और ?"

जी हाँ, वही संखिया, जिसे खाकर जग्गू और बिसम्भर ही नहीं, चाहें तो आप भी इस तरह सो सकते हैं कि दूसरों के कन्धे तो उठें ही, जलूस के साथ भी उठें ?

"मालूम होता है आज आपने हमारी श्रीमती जी से मोरचा बाँधने का फ़ैसला कर लिया है। मियाँ, उन्हें ऐसी-वैसी मत समझना। संखिये का नाम भी सुन लेंगी, तो जान को आ जायेंगी ?"

ख़ैर, भाभी-देवर की लड़ाई का मोरचा तो हमेशा ही ज़िन्दगी की एक दिलचस्प नियामत है, हम उससे डरते नहीं, पर आप पहले यह बताइए कि आपने कभी संखिया देखा है ?

"हाँ देखा है, संखिया सफ़ेद-सफ़ेद होता है, पर आप किसी जाँच कमेटी के मेम्बर तो नहीं हो गये, जो यह सब जाँच-पड़ताल किये जा रहे हैं ?"

अरे भाई, हम किस कमेटी के मेम्बर होते। बात यह हुई कि हम आज एक मजिस्ट्रेट के यहाँ बैठे थे। उनकी अदालत में एक मुक़दमा चल रहा है कि एक साहब ने संखिया खा लिया, पर मरे नहीं, बच गये और अब पुलिस ने आत्म-हत्या का प्रयत्न करने के अपराध में उनका चालान कर दिया है। अब वे महाशय कहते हैं कि मैंने वंशलोचन के भुलावे में संखिया खा लिया था।

"हाँ, वंशलोचन और संखिये का रूप बहुत कुछ मिलता-जुलता है और यह भूल आदमी कर सकता है, इसमें सन्देह नहीं, पर भाई साहब, यह भी अजीब है कि आत्म-हत्या का अपराध आदमी करे और सफल हो जाये, तो न गिरफ़्तारी होती है, न चालान, न मुक़दमा, पर आदमी चूक जाये, तो जेल का दरवाज़ा उसके लिए इस तरह खुल जाता है, जैसे नाकू का मुँह।"

तो, यह एक और अजीब बात हुई कि आप इस वंशलोचन और संखिये की बात में से क़ानून-शास्त्र की एक पहेली निकाल बैठे। आप भी खूब आदमी हैं, भाई साहब !

"जी हाँ, मैं खूब आदमी हूँ भाई साहब, कि वंशलोचन और संखिये की बात में से क़ानून-शास्त्र की एक पहेली निकाल बैठा, पर आप तो खूब आदमी नहीं हैं, तो फ़रमाइए आप इस वंशलोचन और संखिये की

बात में से कौन-सा बजर-बट्टू निकाल रहे थे ?"

माफ़ कीजिए, सवाल आपका बहुत मुनासिब है। मैं सचमुच वंशलोचन और संखिये की बात में से जीवन-शास्त्र का एक प्रश्न सोच रहा था।

"वाह, क्या कहने; कहाँ वंशलोचन और संखिया और कहाँ जीवन-शास्त्र! मान गये साहब, आज से हम आपको फ़िलासफ़र। सचाई यह है कि सुलहड़ मिश्र आखिर आपके ही वंश में तो पैदा हुए थे, जो उपला लेकर आग लेने चले और अपने विचारों मे उलझे पहुँच गये आठ कोस दूर एक क़स्बे में।

अच्छा, तो अब यह बताइए कि जीवन-शास्त्र की वह कौन-सी बात है, जिसे आप सोच रहे थे। ज़रा हम भी तो आपकी फ़िलासफ़ी सुन लें।"

वंशलोचन और संखिये की बात सुनकर मैं यही सोच रहा था कि संसार में वे अकेले ही महाशय नहीं हैं, जो वंशलोचन को संखिया समझ खा गये, बल्कि हममें ज़्यादातर आदमी ऐसे हैं, जो वंशलोचन को संखिया समझ रात-दिन खाया करते हैं।

"ज़रा खोलकर समझाइए, तो समझें हम आपकी बात। यों तो हमारे पल्ले कुछ पड़ने से रहा; क्योंकि आखिर आप हैं फ़िलासफ़र और हम भाई जी, एक मामूली आदमी।"

समझने को इसमें क्या बात है, लीजिए कुछ नमूने खुद ही देख लीजिए। हमारे पड़ोसी श्रीपाल सिंह को तो आप जानते ही हैं। जी हाँ, वे ही जो अभी सर्दियों में स्पेशल आनरेरी मजिस्ट्रेट बनाये गये थे। बेचारे वंशलोचन समझकर संखिया खा गये और वह संखिया अब उनकी आँतों का गोरखधन्धा बना रहा है।

"क्या कहा आपने कि बाबू श्रीपाल सिंह भी वंशलोचन की जगह संखिया खा गये और अब वह उनकी आँतों का गोरखधन्धा बना रहा है ?

"यह क्या कह रहे हैं आप, अभी कल तो वे हमें क्लब में मिले ही

थे। वही हट्टे-कट्टे, हँसमुख और ताजे-तर। आप कब की बात कह रहे हैं। यह संखिया खाने की ?"

भाई साहब, आपके दिमाग में उठती हैं — क़ानूनी पहेलियाँ और हमारे दिमाग में जीवन के प्रश्न। क़ानून है शब्दों की बहस और जीवन है भावनाओं का उपवन। इसलिए आप संखिये और वंशलोचन में देखते हैं संखिया और वंशलोचन और मैं देखता हूँ उनका तत्त्वज्ञान !

"ओहो मेरे शेर ! यह तो बहुत दूर की उड़ान ली आपने। अरे भाई, मुझे भला क्या मालूम कि आप वंशलोचन और संखिये का भी तत्त्वज्ञान बना बैठे हैं। यों समझिए कि अब तो आपकी खोपड़ी आचार्य जगदीश चन्द्र की रसायनशाला हो गयी।

अच्छा जी, तो अब हमें भी वंशलोचन का वह तत्त्वज्ञान दिखाइए ज़रा।"

तत्त्वज्ञान क्या था इसमें। वंशलोचन है एक उपयोगी और लाभदायक चीज़ और संखिया है एक मारक विष, पर दोनों का बाहरी रूप-रंग एक है। इसी तरह की दुनिया में और बहुत-सी चीजें हैं, जो गुणों में भिन्न होकर भी बाहरी रूप में एक हैं।

अब यदि कोई भाला या भोंदू मनुष्य किसी उपयोगी चीज़ की जगह कोई हानिकारक चीज खा ले या उपयोग कर ले, तो उसे मुहाविरे में कहा जायेगा कि भाई, यह तो संखिये का वंशलोचन बना रहा है। हमारे पड़ोसी श्रीपाल सिंह ने भी यही संखिये का वंशलोचन बना दिया है स्पेशल मजिस्ट्रेट बनकर।

"क़ानूनी कहिए या जीव-शास्त्र की कहिए, है आपकी यह बात एक पहेली ही, इसलिए अच्छा हो कि आप ही इसे बूझ भी दें।"

पहेली-वहेली कुछ नहीं भाई साहब, बात सीधी है कि दुनिया की हर चमकदार चीज हीरा नहीं है और जीवन में क्या शाप है और क्या वरदान, यह जानना बड़े-बड़े विद्वानों के लिए भी सुगम नहीं है। भाई श्रीपाल सिंह भी इसी चक्कर पर चढ़ गये हैं। रात-दिन मारे-मारे फिरे,

जिनका मुँह नहीं देखना था उनके पाँव देखे, जिनकी नमस्ते नहीं ली जा सकती, उनके सामने सिर झुकाया, पिछले बीस साल देश का काम करते-करते जिनसे जान-पहचान और दोस्ती हो गयी थी, उनकी चौखटें चाटीं और तब कहीं स्पेशल मजिस्ट्रेट हुए, पर हुआ क्या; यही कि वंशलोचन का संखिया बन गया।

"वाह, वंशलोचन का संखिया कैसे बन गया। चार आदमियों में सिर ऊँचा हुआ, समाज में पोजीशन निखरी, बड़े आदमियों में गिनती होने लगी। इससे पहले बेचारे थे ही क्या? बाप-दादों के छोड़े चार मकानों का किराया आता है। सुबह चुपड़ी, तो शाम को रूखी खा साते थे – अब शहर में वे ही वे हैं।

अभी पाँच-छह दिन हुए राज्य के बड़े मिनिस्टर साहब की पार्टी थी उनके यहाँ। देखा नहीं मिनिस्टर साहब से इस तरह बातें करते थे, जैसे इनके कोई निजी रिश्तेदार हों। कलक्टर और कप्तान साहब भी पार्टी में आये थे, पर श्रीपाल सिंह से इस तरह बात करते थे, जैसे वे ही मिनिस्टर हों और आपको वंशलोचन का संखिया ही घुटता दिखाई दे रहा है?"

जी हाँ, यही तो कह रहा हूँ मैं कि आपको मिनिस्टर साहब की पार्टी का वंशलोचन ही दीख रहा है, पर मुझे दीखता है उनकी पत्नी के आँसुओं का संखिया!

"उनकी पत्नी के आँसुओं का संखिया! कैसे आँसू उनकी पत्नी के? आखिर वह रोयी क्यों? जी?"

जी हाँ, उनकी पत्नी के आँसू! वह रात हमारे घर आयी थी और कह रही थी कि इस मजिस्ट्रेटी ने भैया, हमारा तो नाश कर दिया। पहले सादगी से सब काम हो जाता था, अब हरेक बात में साहबी आ गयी है। पहले चार घड़ी बाजार में बैठते थे और फ़सल पर कभी शक्कर तो कभी तेल, कभी उड़द तो कभी खाँड़ भर लेते थे और इस तरह दस रुपये मिल जाते थे, पर अब वही किराये के रुपये – उन्हें ओढ़ लो या बिछा लो। अभी परसों मिनिस्टर साहब की पार्टी थी, मेरा जेवर गिरवी

रखकर रुपये लाये, तो काम चला। कल कह रहे थे : दो मकान बेचकर एक मोटर लूँगा। सबके पास मोटरें हैं, ताँगे में जाते शरम लगती है। मैंने कह दिया, मोटर में बैठे हवा ही खाया करना, चूल्हा तो बस निर्जल एकादशी ही रखेगा फिर, तो झल्ला पड़े। वे समझते हैं मैं उनकी इज्जत देखकर जलती हूँ, पर भैया, इज्जत, कीर्ति, यश और नाम तो पेट भरे पर ही भले लगते हैं।

अब कहिए, भाई श्रीपाल सिंह की मजिस्ट्रेटी ने वंशलोचन का संखिया कर दिया या नहीं ?

और आप तो गये थे उनकी पार्टी में ? वहाँ आपने जंगबहादुर की कविता भी सुनी होगी। उनकी कविता भी वंशलोचन का संखिया है।

"उनकी कविता भी वंशलोचन का संखिया है ? वाह साहब वाह, आज तो आपने नया संखिया-शास्त्र ही रच मारा ! जी, तो किस तरह ?"

नया संखिया-शास्त्र इसमें कुछ नहीं। बात यह हुई कि जंगबहादुर पहले बहुत सुन्दर कविताएँ लिखा करते थे और हिन्दी के श्रेष्ठ पत्रों में उन्हें स्थान मिला करता था, पर एक कवि-सम्मेलन में गये, तो उन्होंने देखा कि वहाँ गीत से अधिक संगीत का जोर है। उन्होंने भी गाकर कुछ पढ़ा, तो वाहवाही भी मिली और चाँदी के इक्यावन सिक्के भी। अब कवि-सम्मेलन ही उनकी दुनिया है। अपने पुराने गीत अलापा करते हैं और तालियाँ सुना करते हैं। एक दिन शान से कह रहे थे, कलकत्ता परिषद् में गया था भाई साहब, प्रसिद्ध वक्ता देवेन्द्र जी को एक सौ इक्यावन रुपये दिये गये और मुझे दो सौ एक रुपये। गया तो मैं थर्ड में ही था, पर सेकेण्ड का किराया मिला और कुछ न पूछिए वहाँ कवि सिन्धु जी भी आये थे, पर कॉलेज के लड़कों ने उन्हें 'हूट डाउन' कर दिया और मेरे गीत बार-बार सुने।

कहिए, कवि-सम्मेलन की यह कीर्ति शाप हुई या वरदान ? और फिर वही बात वंशलोचन का संखिया बन गया या नहीं ?

और भाई, क्या श्रीपाल और क्या बेचारे जंगबहादुर, यह तो वह

चौराहा है, जिस पर अमरीका के प्रेसीडेण्ट श्री विलसन जी की चौकड़ी भूल गयी। पहले महायुद्ध के अन्त में वे विश्व-शान्ति का मिशन लेकर निकले और अपनी शर्तों के साथ इंगलैण्ड आये। यहाँ उनका वो स्वागत हुआ, वो धूमें मचीं कि बस बेचारों का मिशन एक गैस का गुब्बारा रह गया, जिसमें से निकला लोग ऑव नेशन्स, जिसने सच पूछो, तो दूसरे महायुद्ध की नींव ही रखी।

वहाँ के एक दैनिक ने विलसन की विदाई पर जो अग्रलेख लिखा, उसका शीर्षक था : "ही केम, ही सा एण्ड ही वाज कौंकर्ड !" वाह भाई पत्रकार -- 'वह आया, उसने देखा और बस हमने उसे जीत लिया।'

तो यह स्वागत-सम्मान शाप हुआ या वरदान ? अरे भाई, कह तो दिया यह सब वंशलोचन का संखिया बनाना है।

संखिया, संखिया, संखिया, बार-बार वही संखिया ! जानता हूँ शब्द कड़वा है और हर बार अपने साथ मौत का सन्देश लाता है, इसलिए कानों को कुछ अच्छा नहीं लगता, क्योंकि रंग-रूप की एकता में उलझकर साँप को हार माननेवालों की जो गत बनती है, वह इस शब्द को बार-बार दोहराकर भी मैं पूरी तरह कह नहीं पाता।

संखिया हो या साँप, वे आदमी को एक बार में मार डालते हैं, पर कीर्ति के कोल्हू में आदमी इस तरह पिसता है कि न जिये जीता है, न मरे मरता है।

"अरे भाई, कीर्ति के लिए दुनिया के लोग जान दे रहे हैं और तुम उससे ऐसे भरमाये जा रहे हो कि जैसे वह कोई भूत हो। क्या बात है आखिर, कुछ हमें भी तो पता लगे ?"

पता ? पता इसमें क्या लगेगा तुम्हें या मुझे ? कीर्ति का मतलब है दूसरों की राय और जिसकी चाल दूसरों की राय पर निर्भर, जिसकी पसन्दगी और नापसन्दगी दूसरों की आँख के सहारे, भला वह भी कोई आदमी है ? सच यह है कि आदमी कीर्ति के शिखर पर चढ़ा कि फिर उसकी जिन्दगी अपनी जिन्दगी ही नहीं रहती।

अभी उस दिन मिले थे बाबू सी. आर. शुक्ला। बड़े परेशान थे बेचारे। कह रहे थे साथियों ने अच्छा हमें नामजद मेम्बर बनवाया, हमारी जिन्दगी ही तलख हो गयी। न लिखने का समय रहा, न पढ़ने का; जैसे एकान्त अब हमारे लिए कोई जरूरी चीज ही नहीं रही। जब देखिए, कोई न कोई आया रहता है और जो आता है यह समझकर आता है कि मुझे जीवन में अब अपना कोई काम ही बाक़ी नहीं रहा।

एक मित्र की सलाह से हमने बैठक के बाहर बोर्ड लगा दिया कि मिलने का समय तीन बजे से पाँच बजे तक है। बस फिर क्या था, सब जगह चर्चा हुई कि हमारा दिमाग बहुत भारी हो गया है।

उस दिन रास्ते में रायबहादुर साहब मिल गये, बुजुर्ग आदमी हैं। मैंने नमस्कार किया, तो बोले : "भाई, अब तो हम ही तुम्हारे आगे हाथ जोड़ेंगे — आखिर बड़े आदमी हो गये भैया! टाइम पर मिलते हो, टाइम पर खाते-पीते हो और क्यों न हो आखिर अँगरेज अपना राज तुम्हें ही तो सौंप गये हैं!"

बताइए, मैं क्या करता? साइनबोर्ड उतारकर भीतर रख दिया है और मान लिया है कि मेरा घर अब घर नहीं, चौपाल है, जिस पर मेरा ही नहीं, दूसरों का भी उतना ही अधिकार है।

हमने उनसे कहा : भाई साहब, अभी तो साइनबोर्ड ही उतारा है, अभी क्या। अभी तो घर में आग देने के लिए भी तैयार रहिए।

बोले : "यह क्या कह रहे हो?"

मैंने उन्हें 'शेरो-शाइरी' से उस्ताद नासिख का क़िस्सा सुनाया। उर्दू के प्रसिद्ध कवि नासिख एक दिन बाग़ के एकान्त बँगले में बैठे एक कविता की तैयारी में थे। एक सज्जन वहीं आ पहुँचे। कवि को परेशानी हुई, मूड बिगड़ने का खतरा हुआ, तो उठकर टहलने लगे कि यह भलामानुष समझ जायें और उठे, पर यह जमे तो बस जमे। वे फिर किसी बहाने से उठकर गये, पर ये तो जमकर बैठे थे, बैठे रहे।

उस्ताद नासिख ने चुपके से चिलम की आग बँगले की टट्टी में रख

दी और आप लिखने लगे। आग भड़की, तो वे साहब घबराकर उठे, पर कवि जी ने उनका हाथ पकड़ लिया और बोले : "कविता खाक में मिल गयी, दिल जलकर राख हो गया। अब तो तुम्हारे और मेरे ही जलने का नम्बर है। अब क्या मैं तुम्हें जाने दूँगा।"

संस्मरण सुनकर शुक्ल जी हँस पड़े, तो हमने उन्हें उस्ताद नासिख का दूसरा संस्मरण सुनाया। फिर किसी दिन वे लिखने की मूड में थे कि कोई आ जमे। जब शराफ़त के इशारे बेकार हो गये, तो उस्ताद ने नौकर से अपना सन्दूकचा मँगाया। उसमें से अपने मकान की मिल्कियत का काग़ज़ निकाला और उनके सामने रखकर नौकर से बोले : "भाई मज़दूरों को बुलाओ और घर का असबाब उठाकर ले चलो।"

नौकर चक, तो वे सज्जन अवाक्! तभी उस्ताद ने कहा : "देखते क्या हो? मकान पर तो इन्होंने क़ब्ज़ा कर ही लिया है, ऐसा न हो कि असबाब भी हाथ से जाता रहे।"

क्या इन संस्मरणों की साक्षी नहीं है कि कीर्ति है एक वरदान, जब तक वह सीमा में रहे और कीर्ति है एक शाप, जब वह उचककर किसी के कन्धों पर आ बैठे!

□

कृपया अपने से पूछिए

महाभारत का युद्ध बहुत-सा बीत चुका था, पर अभी चल रहा था। पाँसा निश्चित रूप से पाण्डवों के पक्ष में था, कौरवों के बड़े-बड़े महारथी काम आ चुके थे और पाण्डवों का झण्डा कौरवों की छावनी पर फहराने-वाला ही था।

युद्ध की भूमि से दूर बैठे संजय अपने योगबल से अन्धे महाराजा धृतराष्ट्र को युद्ध का हाल बता रहे थे। तभी धृतराष्ट्र ने संजय से पूछा : "क्या अब भी हमारी जीत हो सकती है संजय ?"

बड़ी नाजुक परिस्थिति है। अन्धा राजा कुटुम्ब की लड़ाई से व्यथित, फिर उसका परिवार पराजय की ओर और सर्वनाश की घड़ियाँ सामने, जिसमें राज्य भी नष्ट और पुत्र-पौत्र भी भस्म और यों आज का राजा कल का भिखारी। पशु भी इस दशा में करुणा से लथपथ हो उठे, फिर सहृदय संजय क्या उत्तर दें ? गप्प तो वे मार हो नहीं सकते !

चतुरता और मधुरता को मिलाकर वे कहते हैं :

"आशा बलवती राजन् शल्यो जेष्यति पाण्डवान् ।
हते भीष्मे हते द्रोणे कर्णे च विनिपातिते ॥"

राजन्, आशा बड़ी बलवती है कि कहती है : शल्य ही पाण्डवों को जीत लेगा; हालाँकि महाबली भीष्म मर चुका है, गुरु द्रोणाचार्य भी नहीं रहे और कर्ण भी गिरा दिया गया !

परिस्थितियों को देखकर उत्तर की अद्‌भुतता का हम अनुमान कर सकते हैं। संजय ने झूठ नहीं कहा और राजा को एक क्रूर धक्के से भी बचाया।

सत्य सत्य है, सत्य ही ईश्वर है, पर कोरा सत्य बहुत पैना होता है, इसलिए उसपर मिठास की पॉलिश का विधान नीति ने किया है।

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।"

सत्य कहिए, पर प्रिय सत्य कहिए, अप्रिय सत्य, ना, ना, मत कहिए।

यहीं पर यह प्रश्न : सत्य ईश्वर है, तो हम उसके साथ यह सौदा, यह मेल-मिलाव क्यों करें ?

"अप्रियस्य च पथ्यस्य श्रोता वक्ता सुदुर्लभः॥"

यह मेल-मिलाव हम इसलिए करें कि अप्रिय सत्य कितना भी हितकारक हो, उसका सुननेवाला और कहनेवाला, दोनों ही अत्यन्त दुर्लभ हैं।

यहाँ मनोविज्ञान की शरण लेनी पड़ेगी, नहीं तो एक क्यों खड़ी रह जायेगी ?

अप्रिय सत्य का श्रोता अत्यन्त दुर्लभ है, क्यों ? यात्री चला जा रहा है, उसके कन्धे का अँगोछा गिर गया है पर उसे पता नहीं, वह चला जा रहा है। मैंने देखकर उसे पुकारा : अबे, किस पिनक में है कि अँगोछा गिर गया, पर नवाब को पता ही नहीं; चले जा रहे हैं, ऊँट की तरह गरदन उठाये !

यात्री अँगोछा उठाकर चल पड़ता है, पर धन्यवाद नहीं देता, क्योंकि उसका मन सूचना की कृतज्ञता से नहीं, पिनक, नवाब और ऊँट की तेजी से भर रहा है।

लड़का पढ़ता ही नहीं, माँ ने उसे पास बुलाया कि दो चपत जड़े, पर तभी पड़ोसी ने कहा : "अरे, पढ़ता नहीं, तो क्या भीख माँगकर खायेगा ? जैसा बाप आवारा है, वैसा ही बेटा उठैना, और क्या !"

माँ कठोर होकर पड़ोसी को देखती है और पुत्र को पीटने के बदले, गोद में चिमटाकर पड़ोसी से कहती है : "भीख माँगेगा या राज्य करेगा, तुम्हें क्या ? जब यह तुम्हारे दरवाजे आये, तो जाओ किवाड़ बन्द कर लेना !"

माँ अचानक यह बदल क्यों गयी ? पड़ोसी ने बात तो सच्ची कही थी, हित की कही थी !

वही बात है, जो नीतिकार ने कही थी कि अप्रिय सत्य का श्रोता दुर्लभ है, क्योंकि सत्य की अप्रियता श्रोता के मन की उस कोमल वृत्ति को कुण्ठित कर देती है, जो सत्य को ग्रहण करती, पचाती है। सत्य कहो, पर इस तरह कि वह लिया जा सके, पचाया जा सके, इसलिए उसे प्रिय रूप में मधुर बनाकर कहो।

"और क्यों जी, अप्रिय सत्य का कहनेवाला अत्यन्त दुर्लभ क्यों है ?"

सच है कि यह प्रश्न पहले से ज्यादा गहरा है। कहनेवाला जब सत्य को अप्रिय रूप में कहता है, तो उसके स्वर में एक कड़वाहट वाणी तक ही नहीं रुकती, भीतर मन को भी स्पर्श करती है और जिस कहनेवाले का मन कड़वा है, वहाँ हित-चिन्ता दुर्भावना हो जाती है, क्योंकि दुर्भावना का मूल पिता है क्रोध, तो यह बात हरेक के बस की नहीं कि कड़वी बात कहे और क्रोध से अछूता रहे, इसीलिए अन्तर्द्रष्टा कवि ने कहा कि अप्रिय और हितकारक सत्य का वक्ता और श्रोता दोनों अत्यन्त दुर्लभ हैं।

सिद्धान्त यह बना कि सच कहो, पर मीठे होकर, झूठ न बोलो, पर कड़वाहट से दूर रहो।

कृपा कर अपने से पूछिए कि किसी की भूल आप सुधार रहे हों या उसे नया परामर्श दे रहे हों, आपका मन, आपकी वाणी और आपका लहजा कड़वा तो नहीं होता ?

□

यह कोई अद्‌भुत अनुभव नहीं है कि हम अपने ही घर या किसी दूसरे के मेहमान हों तब बाल बाहने के लिए कंघा उठायें और पायें कि कंघा किसी के बालों से भरा है—साफ़ है कि जो सज्जन पहले बाल बाह गये हैं, वे उसे साफ़ करके नहीं रख गये।

यह कोई खास बात है, यह कभी मुझे नहीं लगा था, पर उस दिन

जब मैं एक आत्मीय के घर में मेहमान था, तो यों ही यह बात मेरे लिए खास बात हो गयी।

मैं गैलरी में बैठा उनसे बात कर रहा था। मेरी कुरसी कुछ इस तरह थी कि वहाँ से पास के कमरे की शृंगार-मेज साफ़ दिखाई देती थी। सबसे पहले एक सात वर्ष की लड़की बाल बाहने आयी। उसने कंघा उठाया, तो बालों से भरा। कंघा साफ़ कर उसने बाल ठीक किये और बिना कंघा ठीक किये वह चली गयी। तब आयीं उसकी माता जी, तब आयी बड़ी बहन, तब भाभी, दूसरी भाभी, और फिर बड़ी बहन, पर हाल सबका वही कि आये, कंघा उठाया, साफ़ किया, बाल बाहे और ज्यों का त्यों कंघा छोड़कर चल दिये।

मैं बहुत ग़ौर से यह सब देखता रहा। शाम को जब सब लोग बाहर लॉन पर बैठे, तो मैंने पूछा : क्यों जी, अगर ऐसा क़ानून बन जाये कि हरेक आदमी को एक कमरा जरूर साफ़ करना पड़ेगा, तो आप लोग अपना-अपना कमरा साफ़ किया करेंगे या एक-दूसरे का ?

सबका एक ही उत्तर था : अपना, पर वे आश्चर्य में थे कि यह क्या प्रश्न यहाँ उठ गया। तब मैंने नया प्रश्न पूछा : क्यों जी, झाड़ू लगाने के सम्बन्ध में यदि अपने-अपने कमरे का नियम ठीक है, तो कंघे के बारे में आप लोग इसी नियम का पालन क्यों नहीं करते कि हरेक अपना कंघा साफ़ करे ?

अब वे सब हँस पड़े, पर हँसी का अर्थ टालना नहीं था। दूसरे दिन से मैंने देखा हरेक ने अपना कंघा साफ़ किया। बात भी ठीक है कि कंघा तो साफ़ करना ही है। बस फ़र्क़ इतना है कि पहले करें या बाद में और अपना मैल साफ़ करें या दूसरे का। एकदम साफ़ है कि हरेक अपना कंघा खुद साफ़ करे; क्योंकि उसे दूसरे पर छोड़ने का अर्थ ही है : दूसरे का मैल साफ़ करने को तैयार होना।

कृपया अपने से पूछिए कि आप अपना मैल साफ़ करते हैं या दूसरे का ?

□

उन्हें खाने का बहुत शौक था। वे मेरे पड़ोस में ही रहते थे। मैं देखता कि वे अकसर अपनी पत्नी को चौके से उठा देते और खुद सब्जियाँ बनाते। सचमुच उनकी सब्जियाँ बहुत स्वादु होतीं और जो कोई खाता, उँगलियाँ चाटता रह जाता।

उनकी पत्नी मर गयी और लड़के की बहू आयी। बहू भी खाना बनाने में मास्टर थी। वे उसके भोजन की सबसे प्रशंसा करते। आदमी मशीन नहीं है कि बराबर एक-सा रहे। कभी-कभी ऐसा भी होता कि बहू का खाना उन्हें पसन्द न आता। जिस दिन ऐसा होता, वे बहू के मुँह पर उसकी बहुत तारीफ करते और मिठाई खाने के लिए एक रुपया बहू को देकर बिना उसके भोजन की निन्दा किये, कहते : बेटा, नमक-मिर्च-मसाला ही सब्जी की जान नहीं है; ठीक छौंक, ठीक आँच, बस आग में आग लग जाता है।

एक भाई हमारे पड़ोस में रहते हैं और एक बाहर अपनी नौकरी पर। वे एक बार अपने भाई से मिलने को आये, तो सब्जियों में नमक ज्यादा था। वे चुप रहे। कुछ दिन बाद फिर आये। समय की बात, नमक उस दिन भी ज्यादा। भाई की बहू से बोले : अरे भई, तुमने न दाल में नमक डाला और न सब्जी में। खैर, मैंने तो खा लिया, पर औरों के लिए तो डाल दो। बहू ने दोनों में फिर से पूरा नमक डाल दिया। अब सब्जी गिलोय और दाल चिरायता!

एक और पड़ोसी हैं हमारे। बाप का कमाया धन बैंकों में है। मजे से गुजर रही है। करते कुछ नहीं, चरते बहुत हैं। उन दिन खाना खाने बैठे, तो सब्जी में नमक कम और दाल में ज्यादा। अँगूठा और एक उँगली से थाल का किनारा साधकर एक झटका और बस थाल, कटोरियाँ और चम्मच, छननछू के साथ रसोई के फ़र्श पर। रसोई का वातावरण अब

ऐसा कि जैसे अचानक दो रेलगाड़ियाँ लड़ गयी हों !

ये हैं हमारे तीन पड़ोसी और उनके तीन ही तरह के तक़ाज़े। तक़ाज़े; यानी तक़ाज़ा करने के, अपनी बात कहने के तरीक़े। हमारा ख़याल है कि आप पहले को नं. एक, दूसरे को नं. दो और तीसरे को नं. तीन मानेंगे, पर कृपया अपने से पूछिए कि जब आपके घर में कोई बात आपके मनमाफ़िक़ नहीं होती, तो आप कौन-सा तरीक़ा काम में लाते हैं ?

□

लाला श्यामसुन्दर लाल खाते-पीते आदमी हैं। कमाना जानते हैं, तो खर्चना भी। दफ़्तर में हमेशा शानदार मेज़ रहती है, जो हर साल रँगी जाती है। कमरे में क़लई साल में दो बार कराते हैं और दीवारों में तसवीरें भी जड़ी रहती हैं।

पर उनका क़लमदान कभी साफ़ नहीं रहता। कभी उसमें स्याही नहीं होती, तो कभी पानी नहीं और इसीलिए मैं कहा करता हूँ कि श्यामसुन्दर लाल दरिद्री हैं।

भाई हफ़ीज़ सुबह उठकर चाय मिले या न मिले, पर हजामत ज़रूर बनाते हैं। शौक़ीन आदमी हैं, लाख काम हो, दिन में दो बार कपड़े बदलते हैं और इत्र के बारे में उनका ज्ञान एक रिसर्च स्कॉलर का है कि किस ऋतु में कौन-सा इत्र लगाना ठीक है।

पर उनके नाक के बाल और उँगलियों के नाखून हमेशा बढ़े रहते हैं। कभी वे उन बालों को चूँटते होते हैं, तो कभी उन नाखूनों को दाँत से काटते रहते हैं और इसीलिए मैं कहा करता हूँ कि भाई हफ़ीज़ दरिद्री हैं।

सरदार ज्ञानसिंह बड़े लायक़ आदमी हैं। एक बड़े कारखाने के

मालिक हैं और उसका ऐसा प्रबन्ध करते हैं कि हर साल का मुनाफ़ा पहले साल से कुछ ज्यादा ही होता है। खास बात यह है कि अपने साथियों और मातहतों में उदार प्रसिद्ध हैं। उनका व्यवहार सभी के साथ साफ़-स्वच्छ है।

पर वे लेटने को अपने पलंग पर जायें या सोने को, नीचे रखे पा-पोश पर पैर नहीं पोंछते और इसीलिए मैं कहा करता हूँ कि ज्ञानसिंह जी दरिद्री हैं।

दरिद्रता एक भावना है और वह बाहर की समृद्धि होते भी हममें रह सकती है।

श्यामा घर के फ़र्श को मांजकर धोती है, पर छत में जाले नहीं देखती और बलदेव सिंह जब पान खाते हैं होठों से बाहर आध-आध इंच गाल भी लाल किये रहते हैं। रामचन्द्र जी जहाँ देखते हैं, पान की पीक थूक देते हैं और रहीम दोस्तों की चिट्ठियों का जवाब नहीं दे पाते। मैं इन सबको दरिद्री कहता हूँ, क्योंकि ये लोग एक बात को ठीक समझते हैं, पर करते नहीं।

कृपया अपने से पूछिए कि आप भी तो कहीं दरिद्री नहीं हैं?

□

कहीं बाहर से या अपने ही चौक से आकर जब मैं अपने पलंग पर बैठता हूँ, तो जूता नीचे निकाल देता हूँ, जैसा कि सभी करते हैं। इस बारे में भी किसी सोच-विचार की जरूरत है, यह कोई नहीं मानता, जैसा कि मैं भी नहीं मानता था, पर अभी कुछ दिन हुए मेरे मन में यह सोच-विचार उठा और मुझे लगा कि यह जीवन का एक जरूरी प्रश्न है।

हम बाहर से पलंग के पास आते हैं, तो जूते का – चप्पल का मुँह पलंग की ओर होता है, पर इस हालत में जब हम फिर से बाहर जाने के लिए जूते में पैर डालते हैं तो हमारे पैर और जूते का मुँह अलग-अलग

दिशाओं में होता है और हमें पहले जूता सीधा करना पड़ता है, तब हम उसे पहन पाते हैं। तो फिर क्या किया जाये ?

चप्पल-जूता निकालने का सही रुख यह है कि हम बाहर से आकर पलंग पर नीचे पैर लटकाये हुए बैठ जायें और तब जूता निकालें। इससे जूतों का मुँह बाहर की तरफ़ रहेगा और फिर से पहनते समय वे हमें सीधे रुख मिलेंगे।

इससे एक फ़ायदा यह है कि जूता निकालने के बाद हम पैर से पैर मलकर या किसी कपड़े से पैर साफ़ कर सकते हैं, जिससे कपड़े गन्दे न हों।

कृपया अपने से पूछिए कि क्या आप मेरे प्रयोग को पसन्द कर इसकी आदत डालने को तैयार हैं ?

□

हमारे एक साथी हैं। जीवन-भर कहीं न कहीं आर्यसमाज के मन्त्री रहे और खद्दर पहना। वायुमण्डल की शुद्धि के लिए वे रोज़ हवन ही नहीं करते, देह-शुद्धि के लिए साबुन की टिकिया के साथ स्नानगृह में काफ़ी गहरा संघर्ष भी करते हैं।

एक दिन आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग में मिले। हवन-यज्ञ और कीर्तन-कथा के बाद हलवा-प्रसाद मिला। खाकर हाथ धोये, तो देखा कि हमारे वे साथी अपनी लहराती खादी की धोती से हाथ पोंछ रहे हैं। हमने समझा बेचारे के पास रूमाल नहीं, तो हमने अपना रूमाल बढ़ाया। बड़ी बेफ़िकरी से बोले : "नहीं, बस काम हो गया है !" काम तो हो ही गया, पर हमने देखा कि उनकी चमचमाती धोती का निचला हिस्सा चिकना हो गया है। बाद में एक दिन हमने उनकी धोती उसी जगह से पीली हुई देखी और उनकी पत्नी से जाना कि घर में चाहे सौ तौलिये हों, पर मन्त्री जी हाथ धोती से ही पोंछते हैं !

हमारे एक साथी हैं। बाप-दादा की दौलत भोगते हैं और शान से जी

रहे हैं। उनकी कोठी में कई बार गया, तो देखा कि और तो सब ठीक है, पर दरवाजों के परदे गन्दे हो रहे हैं और खास बात यह कि हर परदा एक खास जगह से और खास ढंग से मैला हो रहा है।

एक दिन हमने उनके ही घर भोजन किया, तो देखा कि हमारे मित्र और उनके बच्चे परदों से ही हाथ पोंछते हैं।

हमारे एक और मित्र हैं। साहित्यिक रुचि के आदमी हैं और टिप-टाप रहते हैं। उनका उनकी श्रीमती जी से अकसर इस बात पर झगड़ा होता है कि श्रीमती जी पलंग की चादर के कोने से हाथ पोंछ लेती हैं — भले ही हाथ पानी से भीगे हों या छौंक के मसाले से सने हों, बहुत-से बच्चों को अपने कुरते से हाथ पोंछने की आदत होती है और उनके कुरते सदा रँगे रहते हैं।

यह सब अलग-अलग नमूने होकर भी भीतर से एक ही हैं, क्योंकि इन सबकी जड़ में मानसिक आलस्य और प्रमाद का यह भाव है : "अरे चलो, अब तौलिया कहाँ देखें, जो सामने है उसी से हाथ पोंछ लें !"

जो लोग धोती, परदे और चादर से हाथ न पोंछकर सदा तौलियों से ही हाथ पोंछते हैं, उनमें यह आलस्य और प्रमाद न हो, ऐसी बात नहीं। घी में डूबी सब्जियाँ खाकर उठे हैं और हाथ धोकर तौलिये से पोंछा है। तौलिया पीला हो गया है — साफ़-सुथरा तौलिया एकदम गन्दा; क्योंकि हाथ की चिकनाई साबुन या मिट्टी की रगड़ाई चाहती थी, पर वही बात : "अरे चलो, कौन रगड़े, तौलिया खराब होगा, हो जायेगा।"

हाथ पोंछने के लिए हमेशा तौलिये-अँगोछे का ही उपयोग कीजिए, पर हाथ पोंछने से पहले अपने हाथों को साफ़ करना न भूलिए, क्योंकि तौलिये का काम आपके भीगे हाथों को खुश्क करना है, गन्दे हाथों को शुद्ध करना नहीं। कृपया अपने से पूछिए कि आप तौलिये का सही

उपयोग करते हैं या नहीं ?

□

राधेश्याम रात-दिन पढ़ता है। पुस्तक को देखते ही वह उसपर भूखे बाघ-सा टूट पड़ता है। जहाँ तक बने, मोल लाता है, माँग भी लेता है और दावँ बैठे तो उड़ा लाने में भी नहीं चूकता।

वह पुस्तक में डूबा रहता है और उसकी पत्नी खाना खाने का तक़ाज़ा किये जाती है। वह कहता है आ रहा हूँ तुम परसो, पर उठता नहीं। कभी-कभी इस बात पर बोल-चाल भी हो जाती है और पत्नी खाना ज्यों का त्यों छोड़कर तकिये में मुँह दिये जा लेटती है।

रात में तो बिना पढ़े, वह सो नहीं सकता और कई बार राह चलते समय भी पुस्तक में आँख गड़ाये, वह तगड़ी ठोकरें खा गया है।

राधेश्याम एक पठनशील युवक है, पर वह अपनी पढ़ी हुई पुस्तकों के ज्ञान का जीवन में व्यवहार तो दूर, बातचीत में भी कभी उसका उपयोग नहीं करता। वह कहता है : पुस्तक सामने आयी पढ़ ली, आनन्द ले लिया। अब यह क्या जरूरी है कि उसे रटे फिरूँ। यह कोई गीता तो नहीं कि उसका पाठ किये, पुण्य मिले। दिमाग़ कोई कबाड़ी की दूकान तो नहीं कि उसमें हर चीज भरी रह सके, जो मिला सो ठूँस लिया। रेल में, जलसों में, सिनेमा में, बाजार में हजारों आदमी मिला करते हैं। अब किस-किसकी सूरत, नाम और पते याद रखे जायें ? वही हाल पुस्तकों का है।

राधेश्याम पढ़ी हुई पुस्तकों को देखकर कुछ दिन बाद यह भी नहीं बता सकता कि यह उसने पढ़ी है या नहीं, पर बिना पढ़े उसे चैन नहीं पड़ती।

बिलिमोरिया भी पठनशील है। क़मीज भले ही फटी पहने, पर पुस्तक देखकर पसन्द आ जाये, तो बिना खरीदे नहीं रह सकता। कई

पुस्तकालयों का भी वह सदस्य है और उनसे पुस्तकें लेता रहता है।

बिलिमोरिया की पसन्द के अपने लेखक हैं और अपने विषय। वह पुस्तक पढ़ता है और उनके फिर नोट लेता है। नोट भी विषयवार होते हैं और बहीखाते की तरह वह उन्हें इस तरह रखता है कि जरूरत पड़ने पर तुरन्त निकाल सके।

विश्वविद्यालय की बड़ी श्रेणियों के विद्यार्थी अकसर उसके पास आते हैं और उसके नोटों का लाभ उठाते हैं। वह उन्हें इस सरलता से सबको समझा देता है कि उन्हें सुख भी मिलता है और सुभीता भी। बहस तो उसकी कभी रुकती ही नहीं।

जब-तब सभा-सम्मेलनों और पत्र-पत्रिकाओं में उसकी प्रशंसा होती है। उसे पढ़-सुनकर उसकी पत्नी कहा करती है : "इन प्रशंसकों को क्या पता कि यहाँ पढ़ाई ही पढ़ाई है, सिखाई खाक नहीं। जो बुरी आदतें पन्द्रह साल पहले थीं, वे ही अब भी हैं—आखिर ऐसे पढ़ने से क्या लाभ ?"

रहमान की भी जान हैं किताबें। कोई उसकी अँगूठी माँगे, तो दे देगा, पर किताब माँगे तो उसकी जान सूख जायेगी। सुबह उठते ही वह दो-तीन घण्टे पढ़ता रहता है और फिर डायरी लिखता है। वह साल-भर में एक-दो ही किताबें खरीदता है और बार-बार अपनी उन्हीं किताबों को पढ़ता रहता है।

पहले वह पूरा शैतान था, अब फ़रिश्ता हो गया है, यह उसकी माँ, पत्नी और पड़ोसियों की राय है। वह कहा करता है : "ये किताबें मेरी साथी हैं, जो मुझे बहकने से बचाती हैं।"

राधेश्याम बहुत पढ़ता है, पर कुछ नहीं जानता। पढ़ना उसके लिए आदत है, व्यसन है। वह मूर्ख है — बुद्धि का फ़िज़ूलखर्च !

बिलिमोरिया खूब पढ़ता है और बहुत जानता है। पढ़ना उसके लिए शौक है। वह विद्वान् है — ज्ञान का भण्डारी, कंजूस !

रहमान कम पढ़ता है और बहुत सीखता है। पढ़ना उसके लिए पढ़ना है। वह जीवन का साधक है।

कृपया अपने से पूछिए कि आप राधेश्याम, बिलिमोरिया और रहमान, इन तीनों में से किसकी श्रेणी में हैं और यदि पहले दो में आप हैं, तो क्या अब तीसरी में आने का प्रयत्न आरम्भ कर रहे हैं ?

□

पाटिल बहुत होनहार युवक हैं। विश्वविद्यालय में उनका मान है — हमेशा फ़र्स्ट आते हैं। उनमें एक कमी है कि सिगरेट बहुत पीते हैं। इसका उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। वे इसे छोड़ना चाहते हैं, पर छोड़ नहीं पाते।

उस दिन किसी पत्र में उन्होंने पढ़ा कि सिगरेट का ज़हर फेफड़े को काटता है, तो निर्णय किया कि वे अब न पियेंगे। उन्होंने तीन दिन तक सिगरेट छुई भी नहीं, पर चौथे दिन पिकनिक में यार-दोस्त लिपट गये और वे फिर सिगरेट पीने लगे।

पाटिल विवाहित हैं। उस दिन कह रहे थे : पत्नी ऐसी ज़िद्दी है कि मेरी कोई बात मानती ही नहीं। सौ बार कहा कि हर चीज़ कमरे में व्यवस्था से रहनी चाहिए, पर बस उसे कबाड़ी की दूकान बनाये रखती है। कई बार उससे बोलना छोड़ चुका, नाराज़ हुआ, पर वह सुनती ही नहीं।

शमशुद्दीन बड़ी उम्र के आदमी हैं — खाते-पीते और भले मानुष। एक बड़ी संस्था के संचालक हैं, उसका सब काम उनके हाथों में है। संस्था का काम करने में उन्हें कोई दिक़्क़त नहीं होती, करते-करते काम उन्हें रवाँ हो गया है, पर साल के अन्त में जब हिसाब बनता है, तो यह परेशानी आती है कि बहुत से वाउचर नहीं मिलते और बहुत जगह ऐसा

होता है कि बिल पर लिखा रहता है कि रक़म सात तारीख को आ गयी, तो कैशबुक में वह जमा होती है बाईस तारीख को।

आडिटर इसपर एतराज़ करता है, परेशान करता है और शमशुद्दीन पर बुरी तरह झाड़ पड़ती है। यह सब रोज़ का हिसाब रोज़ लिखने और तुरन्त वाउचर न बनाने की लापरवाही का फल है।

हर बार शमशुद्दीन साहब कान पकड़ते हैं, तोबा करते हैं, क़समें खाते हैं। दो-चार दिन इसका असर भी पड़ता है, काम ठीक चलता है, फिर इरादे हार जाते हैं, आदत जीत जाती है, और वही ढर्रा चलने लगता है।

शमशुद्दीन साहब का कुनबा बड़ा है। बेटे हैं, पोते हैं, बेटियाँ हैं, बहुएँ हैं। सब तरह का सुख है, पर वे सुखी नहीं हैं। उन्हें दुःख है कि कुनबे में कोई उनकी नहीं सुनता। वे चिल्लाते हैं, रूठते हैं, खाना छोड़ देते हैं, पर पतनाला वहीं पड़ा रहता है।

प्रिन्सिपल डेविड की उम्र साठ से कम नहीं, पर वे जवानों से अधिक फुरतीले हैं। पहले बहुत बीमार रहते थे, पर अब बीमारी उन्हें देखकर दूर भागती है। बात यह हुई कि वे पहले बहुत शराब पीते थे। एक दिन किसी डॉक्टर ने कहा : "या तो शराब छोड़ दो, या जीने की उम्मीद !"

बस वे चौकन्ना हो गये और उसी दिन उन्होंने शराब की सब बोतलें फोड़ दीं। आज तक इसके बाद उन्होंने शराब नहीं पी। एक पुस्तक में उन्होंने पढ़ा कि प्रातःकाल उठकर घूमना स्वास्थ्य के लिए उपयोगी है। वे सुबह देर तक सोया करते थे। उसी दिन से चार बजे उठने लगे। फिर एक दिन भी कभी लेट नहीं हुए।

उनके कॉलेज में कोई एक हज़ार से ज़्यादा लड़के हैं — सबसे बड़ा कॉलेज नगर में उन्हीं का है और वही सर्वश्रेष्ठ है। दूसरे सब कॉलेजों में हड़तालें होती हैं, हल्ला मचता है, पर उनके यहाँ तो जो डेविड ने कह

दिया, हो गया, यह हाल है। न उनकी बात टालने की ताक़त विद्यार्थियों में है, न प्रोफ़ेसरों में – कॉलेज का वातावरण उन्हीं के चारों तरफ़ घूमता-सा रहता है।

ये तीन मनुष्यों के तीन चित्र हैं, पर असल में ये दो ही चित्र हैं। पाटिल और शमशुद्दीन दो होकर भी एक हैं। वे अपनी सब कमियों को जानते हैं, मानते हैं, उन्हें दूर करना चाहते हैं; उसके लिए निर्णय करते हैं, पर उस निर्णय पर टिक नहीं पाते। डेविड अपनी कमियों को जानते हैं, मानते हैं, उन्हें दूर करना चाहते हैं, उसके लिए निर्णय करते हैं और उस निर्णय पर अटल रहते हैं।

कृपया अपने से पूछिए कि आप पाटिल और शमशुद्दीन की श्रेणी में हैं या डेविड की? और यदि अभी तक पहली श्रेणी में हैं तो क्या आज से दूसरी श्रेणी में आने का दृढ़ निश्चय करेंगे? इस निश्चय से पहले यह समझ लीजिए कि जो अपना निश्चय स्वयं नहीं मानता, उसपर अटल नहीं रहता, अपने भी उसका निश्चय-निर्देश नहीं मानते। पाटिल, शमशुद्दीन और डेविड की असफलता एवं सफलता का यही रहस्य है।

□

अभी उस दिन हमारे एक सहृदय बन्धु का टेलिफ़ोन आया कि ज़रा आ जाओ, तो मैं पैदल ही उठकर चल दिया। रास्ते में पड़ा कचहरी का पुल – ऊपर से सड़क और नीचे से रेल जा रही है।

पुल पर आया, तो देखा कुछ लोग साइकिल-रिक्शा में बैठे आ रहे हैं। चढ़ाई पर रिक्शा पैरों से तो खिंच नहीं सकती, इसलिए रिक्शा-वाला स्वयं पैदल चल हाथों से रिक्शा खींचता है। रिक्शा को हाथों खिंचती देख मेरा मन गहराई में उतर गया और मैंने सोचा कि यहाँ खड़े होकर मनुष्यों का एक नया श्रेणी-विभाग भी हो सकता है।

वह चली आ रही है एक रिक्शा। एक आदमी रिक्शा में सवार है

और ज्यों ही ढाल पर रिक्शावाला उतरा कि वह रिक्शा में बैठा यात्री भी उतर पड़ा। अब यात्री भी पैदल और रिक्शावाला भी। दो-तीन मिनट में दोनों पुल पर पहुँच गये और यात्री फिर रिक्शे में बैठ गया। रिक्शा ढाल पर सपाटे से रपट चली। मैंने सोचा : यह यात्री मनुष्य है : क्योंकि इसे दूसरे का दुःख अनुभव होता है और यह दूसरे के लिए अपना सुख छोड़ सकता है।

वह चली आ रहा है दूसरी रिक्शा। इसमें भी एक यात्री बैठा है। रिक्शावाला पैदल रिक्शा खींच रहा है और यात्री भी उसके साथ ही खिच रहा है। रिक्शा पुल पर आयी तो यात्री बोला : "भाई, बड़ी मेहनत की कमाई है तुम्हारी!"

मैंने सोचा : यह यात्री भैंसा है, जो दूसरे का दुःख अनुभव तो करता है, पर उसके लिए त्याग करने को तैयार नहीं।

तीसरी रिक्शा भी सामने ही है। इसमें भी बैठा है एक यात्री काफ़ी मोटा-ताजा। रिक्शावाला लड़का है कच्चा उम्र का। रिक्शा उससे खिचती नहीं, पसीना उसे छूट रहा है। थककर उसने कहा : "लाला जी, जरा उतर जाओ।" गुर्राकर यात्री ने कहा : "क्यों पैसे नहीं लेगा, जो उतर जाऊँ।" और वह अकड़कर बैठा ही न रहा, हँसी भी करता रहा : "अबे खींच; लगा जोर!"

मैंने सोचा यह यात्री भेड़िया है, जिसके लिए दूसरे का दर्द, दूसरे की तड़फन भी रास-रंग है।

आगे बढ़ते-बढ़ते मैंने सोचा : मनुष्यों में मनुष्य भी हैं, भैंसे भी और भेड़िये भी। कृपया अपने से पूछिए कि इस कसौटी पर कसने के बाद आप मनुष्य हैं, भैंसे हैं या भेड़िये हैं और आखिरी दो में आप आते हैं, तो क्या आज से पहली श्रेणी में आने का प्रयत्न आरम्भ करेंगे?

□

कोशिश तो की, पर कामयाब न हुआ

जीवन, मनुष्य की जिन्दगी, एक सरल सीधी राह है। पक्की सड़क-सी सीधी और साफ़, पर सड़क मे चौराहे आते हैं, तो आदमी उलझ जाता है कि इधर जाये या उधर और उसकी चाल रुक जाती है। अब वह होता है एक कठपुतली कि जिधर कोई चला दे, वह चले और कोई चलानेवाला न हो, तो बस झाँका करे घिरे हुए बन्दर-सा, कभी इधर और कभी उधर। इस मनुष्य की जिन्दगी में भी उस सड़क-जैसे कुछ चौराहे ऐसे हैं कि वहाँ आकर आदमी उलझ जाता है कि यह ठीक या वह ठीक और यह करे या वह करे ।

"अरे साहब, आप जाने किन लोगों की बात करते है यह सब, हर बात में तर्क, हर बात में प्रश्नों की झड़ी और हर बात में सत्य-अहिंसा के झमेले; हम भी बीसियों वर्षों से इसी धरती पर जी रहे हैं। हमारी जिन्दगी मे तो न कभी सड़क आयी, न चौराहा। बस खाते हैं, पीते हैं, मौज करते हैं।" लो, ये आ गये महेन्द्र साहब और मेरी बात के बीच में ही टपक पड़े।

हूं-हूं; ठीक कहते हैं आप। सचमुच मैं आप-जैसों की बात नहीं कहता, मैं तो अपने ही-जैसों की बात कह रहा था, जिन्हें पग-पग पर सोचना पड़ता है और सोचकर ही हर पग चलना पड़ता है। आप-जैसों की बात तो हमारे महात्मा तुलसीदास सदियों पहले कह गये हैं।

"यह क्या कह रहे हैं आप कि हमारे-जैसों की बात महात्मा तुलसीदास कह गये है। तो क्या कह गये हैं वे, जरा बताइए तो!"

जी, वे कह गये है कि "सब ते भले हैं मूढ़, जिन्हें न व्यापै जगत्

रति ।" तो भाई साहब, आप तो उन लोगों में हैं जिन्हें जगत् की कोई बात छूती नहीं, पर हमें तो जीवन के हर चौराहे पर चौकन्ना होकर सोचना पड़ता है कि कहीं उलझ न जायें।

"आखिर वे उलझनें क्या हैं?"

उलझनें? चारों तरफ़ उलझनें ही उलझनें हैं सोचनेवालों के लिए। आज हमारे हज़ारों साथी जिस उलझन में उलझे हुए हैं, उनमें एक है कोशिश और दूसरी कामयाबी।

"आपकी इन्हीं बातों को तो मैं झक कहता हूँ। वाह, क्या छौंक लगाते हैं आप भी। दुनिया में दो उलझनें हैं : एक है कोशिश और एक है कामयाबी। मालूम होता है लाल बुझक्कड़ मरते समय अपनी खोपड़ी आपके यहाँ धरोहर रख गया है कि कभी स्वर्ग से वापस लौटा, तो उसे ले लेगा और आपको बातचीत से पता चलता है कि आप अब उस बेचारे के लौटने से एकदम निश्चिन्त हैं और उस खोपड़ी को रात-दिन रगड़ रहे हैं।"

हमने जीवन-दर्शन की इतनी गहरी बात आपके सामने रखी और आप उसे लाल बुझक्कड़ की खोपड़ी की रगड़ ही बता रहे हैं। वाह, वाह, बात भी कहें तो बस आप-जैसे से कहें कि कहें अंगूर और समझें लंगूर!

"जी, जी, यही बात है। आपने कही जीवन-दर्शन की इतनी गहरी बात और हमने उसे लाल बुझक्कड़ की खोपड़ी की रगड़ ही बता दी, पर ख़ैर, बता दी सो बता दी, अब आप हमारी गूढ़-गीता की भी एक बात सुन लो। कोशिश और कामयाबी ये जीवन की उलझनें नहीं हैं जैसा कि आप अभी कह रहे थे। इन दोनों के मिलाप से एक ऐसी दवा बनती है कि जिन्दगी की सब उलझनें उससे अपने-आप सुलझ जाती हैं।"

आज तो आप सचमुच बड़ी दूर की कौड़ियाँ ला रहे हैं महेन्द्र साहब! अच्छा बताइए तो सही कि वह दवा क्या है, जिससे जिन्दगी की सब उलझनें सुलझ जाती हैं?

"दवा ? आप तो इस तरह उचककर पूछ रहे हैं कि जैसे मेरी दवा हकीम पन्नालाल का खमीरा मरवारीद, वैद्य कृष्णदत्त का यकृतप्लीहान्तक या विलायती डॉक्टर की निगोडीन हो। मेरी दवा एक विचार है, एक युक्ति है, एक तरकीब है, जो उलझनों को सुलझाती है और उलझिए मत लीजिए वह दवा है—कोशिश तो की, पर कामयाब न हुआ !"

वाह भाई, यह क्या खाक दवा है, यह तो एक पुराना बहाना है।

"यह बहाना है या क्या है, इसे समझने के लिए जबतक मैं जीवित हूँ आपको बुद्धि का व्यायाम करने की जरूरत नहीं। आप सरलता के साथ मेरे अनुभवों से लाभ उठा सकते हैं। मैं अपने मुहल्ले में सबसे बड़ा आदमी समझा जाता हूँ और मुश्किल यह कि धन-दौलत में ही नहीं, मनुष्यता में भी। सब लोग मेरे ऊँचे मकान से ही प्रभावित नहीं हैं, मेरी सज्जनता के कृतज्ञ भी हैं। आप मुझे बहुत भाग्यशील कहेंगे कि मेरे हिस्से में दाम भी आया और नाम भी, पर मैं बड़ा ही बदनसीब सिद्ध होता, अगर कोशिश और कामयाबी की यह दवा मेरे पास न होती।"

यह कैसे ? आज तो महेन्द्र साहब, सचमुच आपकी बातें गूढ़-गीता से दूर जीवन की फ़िलासफ़ी के घेरे में घूम रही हैं और आप तो अनुभवों के आचार्य हुए जा रहे हैं। हाँ, तो कैसे आप इस दवा से बदनसीबी को खुशनसीबी में बदल देते हैं। बताइए तो ?

"अच्छा, यह आपका सवाल है, पर मुझे इससे कोई उलझन नहीं, क्योंकि मेरे पास तो इसका उत्तर तैयार ही है। यह उत्तर भी कोई उत्तर नहीं, एक अनुभव है।

एक दिन मैं सुबह सोकर उठा और चाय की पहली घूँट गले से उतारी कि लाला नन्दराम आ पहुँचे। कभी बहुत अच्छे हाल में थे, अब दिन काट रहे हैं। घर में ये हैं, इनकी बुढ़िया है और जवान पोती है। बेटा और बहू पिछली प्लेग की भेंट हो गये। लम्बी बातचीत के बाद बोले : "अब इस लड़की के हाथ पीले करने हैं। यह अपने घर की हो जाये, तो मैं गंगा नहा जाऊँ और यह काम आपकी मदद के बिना हो नहीं

सकता। इसलिए ऐसा इन्तजाम कर दीजिए कि दशहरे तक मुझे एक हजार रुपये मिल जायें। यह आप यक़ीन रखिए कि धीरे-धीरे मैं आपको पाई-पाई चुका दूँगा।"

मैंने उनकी बात बड़े ध्यान से सुनी और आदर के साथ उन्हें चाय का एक प्याला पिला देने के बाद कहा : आप कोई चिन्ता न करें, मैं पूरी कोशिश करूँगा कि आपकी सेवा कर सकूँ। हजार रुपये की बात ही क्या है। मैं तो आपको इसी समय रुपये उठा देता, पर आज-कल जरा खुश्की है। वैसे कोई बात नहीं, कई जगह से रुपये वापस आनेवाले हैं। भगवान् की दया होगी, तो सब काम हो ही जायेगा।

लाला नन्दराम प्रसन्न होकर चले गये। मैंने अपने मन में सोचा कि नन्दराम उम्र में बूढ़ा और साधनों से हीन; फिर किस बैंक से इसका ड्राफ़्ट आनेवाला है, जो मुझे यह रुपये लौटा देगा!

मैं सोच ही रहा था कि चौधरी साहब आये। पुराने देशभक्त हैं। देहातों में धुआँधार लेक्चर देते हैं और क़लम का सिर दवात में डुबाना भी जानते हैं। इधर-उधर की बातों के बाद बोले : "एक बड़ा अच्छा चान्स है कि आपके बड़े बहलखाने में एक प्रेस लगा लें। चुनाव ऊपर से आ रहा है, एक छोटा-सा अख़बार भी निकाल देंगे। बस चाँदी ही चाँदी है। प्रेस में ज्यादा से ज्यादा चार-पाँच हजार रुपये लगेंगे और यह चुनाव कम से कम दस हजार रुपये दे जायेगा। प्रेस मुफ़्त में पड़ेगा। बाद में भी तीन सौ रुपये महीने की गोली है। इस समय रुपये आप लगा दें, मेहनत मैं कर लूँगा, बस आधे-आधे की पत्ती!"

मैंने कहा : हाँ, चान्स तो बुरा नहीं दीखता। आप बातचीत करें, मैं भी कोशिश करूँगा। भगवान् की दया होगी, तो सब काम हो ही जायेगा। चौधरी साहब खुशी-खुशी चले गये, तो मैं सोचने लगा : पाँच हजार रुपये मैं लगा दूँ और प्रेस चौधरी साहब लगा लें। आधे-आधे की पत्ती रहो; यहाँ तक तो ठीक है, पर यह पत्ती लोहे की होगी या अलमुनियम की, या फिर ईख के गोले की ही सूखी पत्ती रह जायेगी,

यह किस ज्योतिषी से पूछूँ ?

आइए, बाबू साहब आइए, आज तो आपने बहुत दिनों में दर्शन दिये। अरे भाई, कहाँ थे आखिर कश्यप साहब !

टिपटाप श्री चन्द्रभान कश्यप आ धमके, तो मैंने उनसे पूछा। बोले : "भाई साहब, मैं इधर बराबर बम्बई, कलकत्ता, इन्दौर और दिल्ली के चक्कर पर रहा। पचास लाख रुपये से एक कम्पनी लिमिटेड की है। यह उसका मेमोरेण्डम है, यह प्रासपेक्ट्स। कई राजा लोग इसके डाइरेक्टर हैं। पैंतीस लाख रुपये के शेयर्स ऑलरेडी बिक गये हैं। पहले हम फ़िल्म बनाने का काम करेंगे और बाद में मकान बनाने का। दोनों काम बड़े पेइंग हैं। पहले ही साल में पचीस-तीस लाख रुपये हम कमा लेंगे।"

मैं आश्चर्य से कश्यप की तरफ़ देख ही रहा था कि वह बोला : "बस अब मुझे मैनेजिंग एजेन्सी बनानी है। दसियों बड़े-बड़े आदमी पीछे पड़ रहे हैं, पर मैंने सबको मना कर दिया है। मैंने अपने साथ मैनेजिंग एजेन्सी में आपका नाम रखा है। यह देखिए, छप भी गया है। मैं जानता था कि आप मना न करेंगे। ज्यादा नहीं कोई पचीस हज़ार रुपये शुरू में दिखाने पड़ेंगे। बाद में तो रुपया ही रुपया है। आप चाहें, तो चुपचाप कम्पनी के रुपये से कोई दूसरा बिज़नेस करके फ़ायदा उठाते रहें। महेन्द्र साहब, इस कम्पनी के बिज़नेस में यही तो लुत्फ़ है कि रुपया पब्लिक का और मजा यारों का।"

मैंने कहा : मिस्टर कश्यप, निशाना तो तुमने खूब लगाया है, पर मेरे पास रुपया कहाँ है ? मैं तो ग़रीब आदमी हूँ, फिर भी कोशिश करूँगा। भगवान् की दया होगी तो सब काम हो ही जायेगा।

कश्यप साहब भी खुशी-खुशी चले गये और संक्षेप में यों समझ लो कि शाम तक कोई पचीस आदमी इसी तरह से आये और इसी तरह खुशी-खुशी गये। इस पचीस में एक कोढ़ी भी था। उसे मैंने एक आना दे दिया और बाक़ी को अपनी दवा की आधी खुराक कि—"कोशिश करूँगा।"

— लेकिन महेन्द्र साहब, आखिर ये लोग फिर भी तो आपके पास आयेंगे ही उस समय आप इन्हें क्या जवाब देंगे ? मैंने पूछा तो महेन्द्र साहब बोले : "आप भी सारी उम्र चुकन्दर ही रहे। अरे साहब, दवा की आधी खुराक जो रखी है कि कामयाब न हुआ। बात साफ़ है कि कोशिश तो की, पर कामयाब न हुआ; यानी अब आप कोई दूसरा दरवाजा झाँकिए।"

ठीक है, पर महेन्द्र साहब, इससे ये लोग सन्तुष्ट तो हो नहीं सकते; क्योंकि उन्हें आपकी दवा की नहीं, रुपयों की जरूरत है ? मैंने पूछा, तो महेन्द्र साहब बोले : "इस दवा के खिलाने में कला ही यह है कि भूख न मिटे और तृप्ति हो जाये।"

अपनी इस कला के सम्बन्ध में कुछ अधिक बताइए तो सही, मैंने पूछा, तो महेन्द्र साहब एक विशेषज्ञ की तरह बोले : "कला का ज्ञान साधना चाहता है। यह वर्षों में सीखने की बात है। फिर भी दो बातें आप सदा याद रखिए। पहली यह कि कोशिश करने का वादा अधिक से अधिक उत्साह में भरकर कीजिए और कामयाब न होने की घोषणा अधिक से अधिक दुःख में डूबकर। दूसरी बात यह कि इस कला की सफलता का सारा रहस्य इस बात में है कि उसे आप यह विश्वास दिला सकें कि सचमुच आपने कोशिश की, पर वाक़ई आप कामयाब न हुए। यह काम आप एक ही तरह हर जगह नहीं कर सकते। इसके लिए मनुष्यों की प्रकृति का ज्ञान आवश्यक है। कोई किसी तरह सन्तुष्ट होता है, कोई किसी तरह, पर रहस्य का मन्त्र यही है कि उसे यह विश्वास हो कि आपने वाक़ई बहुत कोशिश की, पर कामयाब न हुए।"

महेन्द्र साहब, कुछ भी हो आखिर यह अन्याय है—असत्य है, उस आदमी के साथ, जिसे पहले विश्वास दिलाया जाये और बाद में अँगूठा दिखा दिया जाये। मैंने कहा, तो महेन्द्र साहब बोले : यह अन्याय है ? वाह-वाह, अरे भाई! इसमें न अन्याय है, न असत्य; यह तो सहृदयता है। क्या कोशिश का वादा करते समय मेरी भावना यह होती है कि मैं

उसे धोखा दूँ ? ना, मेरी भावना तो यही होती है कि उसका दिल न तोड़ूँ। कौन जाने वह पहले-पहल मेरे ही पास आया हो और बड़े पुरुषों का अनुभव है कि पहले द्वार की निराशा मनुष्य के संकल्पों को हल्का कर देती है। इस दशा में नये प्रयत्नों का साहस ही टूट जाता है। क्या इस स्थिति से मनुष्य को बचाना अन्याय है, असत्य है ?

फिर अपने पास आनेवालों में सब गोमाता ही तो नहीं होते कि उन्हें चारा देना पुण्य हो; कश्यप-जैसे साँप भी तो होते हैं, जिनका काम ही डंक मारना है। ऐसे साँपों का एक इलाज लाठी से सिर तोड़ना भी है, पर कोई गुड़ देने से मरता हो, तो उसे जहर देना क्या कोई अक्ल की बात है ?"

□

बीमारी; एक राहत

एक हमारी भाभी जी हैं। चलती हैं, तो कोठी के टाइल तीन सूत जमीन में धँस जाते हैं और काम में उनके हाथ इस तरह चलते हैं कि जैसे वे किसी आदमी के हाथ न होकर किसी बिजली की मशीन के पुरजे हों। ये पुरजे, जिनके चुप रहने से जंग लगने का खतरा सामने होता है। हाँ, तो वे कभी अपने हाथ-पैरों को चैन से बैठने नहीं देतीं और बराबर कुछ न कुछ किये ही जाती हैं।

वेद में भी कर्म का महत्त्व बताया है और क़ुरान में भी, बाइबिल में भी और गुरु ग्रन्थ साहब में भी, पर उन्हें प्रेरणा मिलती है भारत के एक पुराने होकर भी नये सन्त के वचन से।

"कौन-सा वचन?"

ठीक है, वह वचन आप सुनना चाहते हैं और मुझे तो वह आपको सुनाना ही था; बात जो आगे नहीं बढ़ती बिना उसे आपको सुनाये, तो सुनिए वह वचन यह है :

"खाली बैठे कुछ किया कर,
कुछ नहीं, तो कपड़े फाड़ा कर और सिया कर!"

"वाह साहब वाह! यह अच्छा सन्त-वचन आपने सुनाया कि जब और कोई काम न हो, तो खाली मत बैठो। नये कपड़ों को फाड़ो और उन्हें सियो। भला यह भी कोई अक़्ल की बात हुई?"

मैं पहले ही जानता था कि आप यह वचन सुनकर भड़केंगे पर मैं जानता हूँ कि मेरी पूरी बात सुनकर आप यह मान लेंगे कि कर्म के

महत्त्व पर इससे बड़ी बात न संसार के किसी साहित्यिक ने कही और न सन्त ने।

"तो सुनाइए आप अपनी पूरी बात !"

जी हाँ, सुना रहा हूँ और सुना क्या रहा हूँ कुछ यों ही राज़ी-खुशी, सुनानी पड़ रही है; क्योंकि न सुनाऊँ, तो आप देखते रहें बस मेरी तरफ़ और मेरी बढ़ती बात जाये थम—जैसे घनघोर सर्दी में पानी बरफ़ बनकर जम जाता है।

बात यह है कि आदमी के भीतर काम करने की शक्ति है, उसकी एक हद है एक सीमा है। उससे ज्यादा बोझ हम उसपर लादें, तो वह टूट जाती है, और उससे कम काम लें, तो बिना चलते पहिये की तरह वह जंग खा जाती है—कमज़ोर हो जाती है। इसलिए ज़रूरी है कि हम अपनी शक्ति-भर काम करते रहें। यह ज़रूरी इतना ज़रूरी है कि हमारे पास कभी काम न हो, काम की कमी हो, तो हम काम निकालें, काम करें; भले ही यह निकाला हुआ काम कपड़े फाड़कर सीने का हो !

जिसने यह बात कही, वह कम से कम हमसे ज्यादा नहीं, तो कम होशियार तो न था। वह मनुष्य के शरीर की बनावट से ही नहीं, मन की बनावट से भी परिचित था। वह जानता था कि कपड़ा तो मरम्मत किया हुआ भी काम दे सकता है, पर मनुष्य के भीतर अठखेलियाँ करती काम करने की शक्ति कमज़ोर हो जाये, तो फिर वह पूरी नहीं हो सकती। 'खाली बैठे बेगार भली' इस कहावत में यही तो सत्य छिपा है !

और लीजिए, एक और बात बताऊँ आपको कि जब मैं बीमार पड़ता हूँ तो मुझे एक अन्दरूनी राहत मिलती है।

"वाह-वाह ! अभी तक तो कपड़ों को फाड़कर सीने का विज्ञान ही आप बता रहे थे, अब बीमारी में भी एक अन्दरूनी राहत आपको दिखने लगी; यानी सेर पर सवा सेर !"

आपमें यह बड़ी खराब आदत है कि न तो पूरी बात सुनते हैं, न समझते हैं, हाँ भड़क उठते हैं। पूरी बात सुन लीजिए और फिर देखिए

कि कपड़ों को फाड़कर सीने की तरह आपको बीमारी में भी कोई राहत दिखाई देती है या नहीं।

मैंने कहा नहीं आपसे अभी कि जब हम अपने शरीर को उसकी शक्ति से ज्यादा या कम काम देते हैं, तो वह एक झटका खाता है और बीमारी इस झटके के खिलाफ़ एक बग़ावत है।

बग़ावत के नाम से आप चौंक क्यों पड़े ? हमारे देश में १८५७ से १९४२ तक बग़ावतों का ही दौर-दौरा रहा, पर हाँ आपने तो उनमें कोई हिस्सा लिया नहीं, फिर क्या जानें आप, भला बग़ावत की राहत !

हमारे देश में एक यशस्वी धनपति हैं : श्री घनश्यामदास बिड़ला, धनपति और विद्वान् ! वे एक बार अँगरेज सरकार के किसी कमीशन का मेम्बर बनकर वियेना गये। वहाँ उन्होंने सरकारी काम के साथ एक काम यह किया कि डॉक्टरों को अपना मेदा दिखाया। उनकी राय में उनका मेदा कमजोर था, पर डॉक्टरों ने कहा : आपका मेदा तो सेठ साहब, बिलकुल ठीक है।

सेठ साहब की अक़्ल परेशान कि यहाँ तो खट्टी डकारों, हुँकारों और अफ़ारों से नाक में दम है और ये भले आदमी कहते हैं कि मेदा आपका ठीक है। अजीब विशेषज्ञ हैं ये ! सेठ जी ने लाख अपनी डकारों के नारे लगाये, पर डॉक्टरों ने एक न सुनी।

अन्त में उन्होंने कहा : "आप अगर एक मन बोझा उठा सकते हैं और आपपर लाद दिया जाये दो मन, तो क्या आप चल सकेंगे ?"

सेठ जी बोले : "ना, मैं तो गिर पड़ूँगा।"

विशेषज्ञ बोले : "यह गिर पड़ना कोई बीमारी थोड़े ही है। यही हाल आपके मेदे का है। उसमें जितना खाना हजम करने की ताक़त है, आप उससे ज्यादा खा लेते हैं, बस पेट उसे बरदाश्त नहीं करता और डकारों और अफ़ारों के रूप में बग़ावत कर देता है !" बिड़ला जी यह बात मान गये।

अच्छा, आप जानते हैं कि मरना क्या होता है ?

मैं जानता हूँ कि आप इस प्रश्न पर भी भड़केंगे और कहेंगे बड़े तपाक से कि वाह साहब, यह भी कोई प्रश्न है कि मरना क्या होता है ? इसे तो बच्चे भी जानते हैं कि मरना होता है मर जाना। हमारे बाप-दादा, पर-दादा सब मर गये कि नहीं ?

जी हाँ, आपके बाप, दादा, परदादा मर गये और आपने भक्तिपूर्वक उन्हें ठिकाने लगा दिया, यह भी मैं जानता हूँ, पर इससे मेरे प्रश्न का तो हल हुआ नहीं। मेरे प्रश्न में यह कहाँ था कि आपके कुनबे की मरण-रिपोर्ट क्या है ? मैं तो सिर्फ़ यह पूछ रहा हूँ कि मरना आखिर होता क्या है ?

सुनिए, आप क्या बतायेंगे इस सवाल का जवाब; मरने का मतलब है शरीर में बग़ावत करने की ताक़त न रहना !

आपकी समझ ज़रा सूक्ष्म है, इसलिए मैं अपनी बात को यों कहना चाहता हूँ आपका पैर काँटे पर पड़े, तो आप उछल पड़ते हैं। यह उछलना आपके शरीर की बग़ावत है। अब अगर काँटा चुभे और शरीर न उछले तो समझिए कि आप मर गये या मर रहे हैं। तो मेरी सारी बात का सार यह है कि बीमारी शरीर पर होनेवाले बाहर-भीतर के आक्रमणों के विरुद्ध एक बग़ावत है और इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि बीमारी में भी एक राहत है; यानी यह विश्वास कि मैं बीमार हूँ, तो अभी जीवित हूँ, युद्ध कर रहा हूँ, मर नहीं रहा हूँ। जीवन के विश्वास से बढ़कर भी क्या कोई और राहत हो सकती है !

कभी-कभी तो जीवन का विश्वास मनुष्य के लिए एक नये जीवन का मार्ग खोल देता है। आप तो जानते ही हैं भगत नन्दलाल को। कौन है, जो आज उनका भगत नहीं। सभी उन्हें सिर आँखों लेते हैं, पर मालूम है आपको कि पन्द्रह साल पहले वे नम्बर एक के दुष्ट थे।

जाने कितनों को जालसाज़ी में फाँसकर उन्होंने लूट लिया, कितनों की इज़्ज़त ली और कितनों की जानें। पूरे खूनी थे खूनी, पर अब पूरे भगत हैं। भगत भी बगुला भगत नहीं, सच्चे भगत। वाक़ई ज़िन्दगी

बदल गयी उनकी और वो भेड़िये से गाय बन गये। अपाहिज-आश्रम तो उनका मशहूर है ही, सेवा के और भी बहुत-से काम उनके हाथों चल रहे हैं।

यह इतना बड़ा परिवर्तन, तबदीली, उनमें कहाँ से आ गयी? बात यह हुई कि वे एक बार बीमार पड़े और बीमार क्या पड़े, उनका तमाम शरीर फूट आया। कहीं सींक रखने को भी जगह नहीं। फुन्सी ही फुन्सी; यों समझिए कि फुन्सियों से घिरे वे खुद एक फोड़ा बन गये। न करवटें ले सकें, न बैठ सकें। चारों ओर बदबू ही बदबू। ऐसी हालत में तो कोई लोकप्रिय आदमी भी परेशान हो जाता है; फिर अपनी दुष्टता के कारण, वे तो सबके दुश्मन ही थे। तब कौन आता उनके पास इस हालत में।

मनुष्य के मन की यह बनावट है कि जब बाहर से निराश हो जाता है, तो अपने भीतर झाँकता है। नन्दलाल ने भी बाहर से निराश होकर भीतर झाँका और भीतर क्या झाँका उन्होंने एक नयी दुनिया देखी। उसने जीवन-भर जिन्हें सताया था, वे ही सब वहाँ खड़े दिखाई दिये और दिखाई क्या दिये, नन्दलाल को लगा कि हर एक फुन्सी के रूप में उनका पहले सताया हुआ कोई आदमी आज उनकी छाती पर सवार है। वे काँप उठे और अपने ऊपर उन्हें गहरी घृणा हो गयी।

उन्होंने चाहा कि वे मर जायें, पर चाहते के पास मौत कहाँ आती है। मौत उन्हें छोड़ गयी और वे अच्छे हो गये। अच्छे क्या हुए, बस अच्छे ही हो गये। अब वे बीमारी से पहले के नन्दलाल न थे, नये नन्दलाल थे। अपना धन लगाकर उन्होंने एक अपाहिज-आश्रम खोल लिया था। वे उसके मालिक नहीं, सेवक थे। उनका चेहरा अब और तरह का हो गया था। उसपर क्रूरता की जगह कोमलता आ गयी थी और गले की कड़क मिठास में बदल गयी थी। अब वे राक्षस नन्दलाल नहीं, देवता नन्दलाल थे। कोई समझे तो क्या समझे? अब बताइए आप ही कि आज उन्हें जो राहत नसीब थी, वह बीमारी की राहत ही तो थी!

विश्वविख्यात लेखक श्री एच. जी. वेल्स का निर्माण भी तो बीमारी ने ही किया था। वे पतले-दुबले बालक थे। अपने बचपन में एक दिन उनके साथियों ने गेंद की तरह उन्हें उछाल दिया। उत्साह में उछाल तो दिया, पर वे बोच न सके। नतीजा यह कि उनकी हड्डी टूट गयी और वे एक साल पलंग पर पड़े रहे। पड़े-पड़े और तो कुछ कर ही न सकते थे, पुस्तकें पढ़ते रहे और इस शान्त अध्ययन ने ही उन्हें लिखने की ताजगी दी।

एक बार वे फिर बीमार पड़े और इस बार तो ऐसे पड़े कि जीवन की उम्मीद ही जाती रही। बात यह हुई कि वे फ़ुटबाल खेल रहे थे और गिर पड़े। इस बीमारी से उभरने में उन्हें बारह वर्ष लगे। उन बारह वर्षों में पड़े-पड़े पुस्तकें पढ़ते रहे और वे खुद कहा करते थे कि मेरी बीमारियों ने ही मुझे विश्वविख्यात बनाया।

यों कहो तो यह एक मामूली बात है, पर जरा ग़ौर करो, तो इस बात में एक बहुत बड़ी बात है। बड़ी बात यह है कि मनुष्य अपने से बाहर भटकता फिरता है, पर राहत, चैन और शान्ति स्वयं उसके भीतर है। अब इस मसले पर मैं आपको गीता की गम्भीरता में उतारूँ या फिर योग-वासिष्ठ या योगदर्शन में ले चलूँ, तो शायद आप घबड़ा उठें; क्योंकि बात यह है कि आप इस वक़्त दिलचस्प बातचीत की मूड में हैं और बहुत हो तो डॉक्टर की चीनी-चढ़ी कुनैन भी ले सकते हैं—हकीम साहब का काढ़ा नहीं।

तो ख़ैर, रहने दीजिए, आज गीता और योग की गहराइयाँ, पर पागलों में तो आपकी काफ़ी दिलचस्पी है। मुझे याद है उस दिन हम लोग बैठे बातें कर रहे थे, तो वह हैट-कोट-पतलूनधारी पागल आपके बैठकखाने में घुस आया था।

हाँ-हाँ, आपने उसमें काफ़ी दिलचस्पी ली थी और उसके साथ गप्पों के गुब्बारे खूब उड़ाये थे।

"कहाँ गीता और योग की गहराइयाँ और कहाँ पागल की बात ?

आप भी खूब बेपर की उड़ाते हैं।"

जी, मैं खूब बेपर की उड़ाता हूँ। यह परवाली आपने खूब उड़ायी, पर न आपसे बात कर रहा हूँ मैं गीता की और न पागलों की, मैं तो बात कर रहा हूँ बीमारी की राहत पर और यक़ीन कीजिए कि इस पागल की बात का भी उस बात से एक सिलसिला है ही।

भारत के एक मनोवैज्ञानिक ने पागलों के सम्बन्ध में जो नयी खोज की है, उसमें उसने एक बड़ी मजेदार बात कही है कि जिन परिवारों में पागल होते हैं, उसमें ही ऊँचे दरजे की विभूतियाँ भी पैदा होती हैं। वैज्ञानिक ने इसकी छान-बीन करते हुए कहा है कि हमारे दैनिक जीवन की कठोरताएँ जीवन में इस तरह की दुश्चिन्ताओं को जन्म दे देती हैं कि जीना एक बोझ हो जाता है। इस हालत में पागलपन राहत की एक महान् औषधि सिद्ध होता है, जो जीवन की तमाम दुश्चिन्ताओं और असफलताओं का हरण कर आदमी को बिना मुकुट का राजा बना देता है।

"बिना मुकुट का राजा ?"

अजी, राजा क्या, राजाओं का भी राजा ! लीजिए दो पागलों का एक दिलचस्प संवाद सुनिए, एक पागल ने अपनी मस्ती में झूमकर कहा : "ऐ दुनिया के लोगो, मैं तुम्हें खुदा के क़हर से बचाने के लिए ही धरती पर भेजा गया हूँ। आओ, मेरे दामन के साये में आकर खड़े हो जाओ। मैं क़यामत के दिन तुम्हारे सब गुनाह बख्शवा दूँगा।"

एक दूसरा पागल कुछ दूर घास पर पड़ा इन हजरत की बातें सुन रहा था। उसने अधउठे होकर, इनकी तरफ़ देखा और बहुत गम्भीरता से कहा : "ऐ दुनिया के लोगों, यह झूठ बोलता है। मैंने इसे दुनिया में नहीं भेजा और न इसके कहने से मैं क़यामत के दिन एक भी आदमी को बख्शूँगा।"

मतलब साफ़ कि पहले महाशय अपनी आँखों में पैग़म्बर थे, तो दूसरे महाशय उनसे भी ऊपर साक्षात् खुदा ही थे। कहिए यह राहत, यह सन्तोष और यह मस्ती पागलपन की बीमारी के सिवाय आपको या मुझे

और कौन दे सकता है और यही राहत तो है, जो हमारे उस वैज्ञानिक के कहने के अनुसार उन परिवारों में महापुरुषों को जन्म देती है, जिनमें अकसर लोग पागल होते हैं।

"अच्छा आपने हमें एक बार लड़ाई का व्याकरण बताया था। हमारे मित्रों तक ने उस व्याकरण में बहुत रस लिया। क्या बीमारी की राहत का भी कोई व्याकरण आप हमें बता सकते हैं ?"

तो यों कहिए कि सवाल पूछकर आप मेरा मज़ाक़ उड़ा रहे हैं, पर हज़रत, याद रखिए कि यह मज़ाक़ कुछ जमेगा नहीं, क्योंकि बीमारी की राहत का एक व्याकरण सचमुच है।

"क्या कहा आपने कि बीमारी की राहत का सचमुच एक व्याकरण है ? कहाँ है वह व्याकरण; हमने तो कभी पढ़ा नहीं उसे ?"

जी, आपने उसे सैकड़ों बार पढ़ा है, पर पढ़ने से क्या होता है, समझा नहीं आपने। बीमारी की राहत का व्याकरण उर्दू में है और बरसों हुए छप भी चुका है।

"उर्दू में बरसों हुए बीमारी की राहत का व्याकरण छप चुका है, यह क्या कह रहे हैं आप ?"

जी, मैं ठीक कह रहा हूँ। लीजिए, आप भी देख लीजिए बीमारी की राहत के व्याकरण का पहला सूत्र यह है कि आदमी मौत से न डरे और उसे ज़िन्दगी की ही एक क़िस्त समझता रहे। देखिए, किस सफ़ाई और सादगी से यह बात कही गयी है :

"जिस पै एहबाब बहुत रोये, फ़क़त इतना था—
घर को वीरान किया, क़ब्र को आबाद किया।"

अरे भाई, मौत इतनी ही बात तो है कि एक ज़िन्दगी छोड़ दी और दूसरी शुरू की। फिर इसमें परेशानी क्या, हाय-हाय क्यों; यह भी जीवन है, वह भी जीवन ! मनुष्य अपने अमर जीवन की एक लम्बी यात्रा पर चला जा रहा है। यह आज का जीवन इस यात्रा का एक स्टेशन है। स्टेशन पर भला, कब कौन बसा है। तो फिर स्टेशन से उठने का रंज

क्या, बेचैनी कैसी ? सामान उठाया और उठ चले। देखिए न, यह बात इस व्याकरण में किस सफ़ाई से कही गयी है :

"हिर्सो हविसो तावो तवाँ 'दाग़' जा चुके !
अब हम भी जानेवाले हैं सामान तो गया।"

भावनाएँ, वासनाएँ और आवेग चले गये। इनसानी ज़िन्दगी के यही तो असली सामान हैं। अनुभवी दाग़ कहते हैं, बस इस सामान के बाद हम भी जाने ही वाले हैं। ठीक भी है, सामान उठाकर नयी गाड़ी में रखा गया, तो कौन है, जो फिर स्टेशन पर ही जमा बैठा रहे ?

यह शान्ति, यह स्थिरता मनुष्य में रहे, इसके लिए उसमें विश्वास की जरूरत है। यह विश्वास या तो मृत्यु की अनिवार्यता का विश्वास हो, जैसा कि अभी मैंने कहा और या फिर जीवन की अनिवार्यता का :

"मसरूफ़ कर लिया मुझे उसके खयाल ने,
जा ऐ अजल कि मरने की फ़ुरसत नहीं मुझे।"

□

आप कितने भले हैं ?

हर मनुष्य भला आदमी, सज्जन पुरुष बनना चाहता है। न कोई दुर्जन होना चाहता है, न अपने को दुर्जन कहलाना चाहता है, पर सज्जन वह हो सकता है, जो अपने हर काम को अपनी आँख की तराजू में तोलकर चले।

क्या आपने कभी ऐसा किया है? क्या कभी एकान्त में बैठकर गहराई से सोचा है कि आप सज्जन हैं या दुर्जन? और यदि सज्जन हैं, तो कितने सज्जन? मेरा विचार है कि ऐसा आपने कभी नहीं किया और आप भी उन्हीं लोगों में हैं, जो बिना जाने किधर जा रहे हैं, चले जा रहे हैं!

आप अपने कामों में स्वतन्त्र हैं, पर मुझे इतना कहने का तो अधिकार है ही कि जीवन की यात्रा कोई अन्धों की रेली नहीं है। यह तो एक सुव्यवस्थित यात्रा है। अधिकांश लोगों के दुःखी होने का कारण यही है कि उन्हें जो मिल गया, वे उसे ही ढोये चल रहे हैं और जो उन्हें मिलना चाहिए, उसे पाने का, अपने लिए उसके नव-निर्माण का, वे प्रयत्न नहीं करते।

जीवन में हर घड़ी ऐसे अवसर आते रहते हैं, जिनमें मनुष्य कुछ सीखे, कुछ पाये और अपने को आज से कल श्रेष्ठ बनाये, पर हम जीवन को आँख खोलकर नहीं देखते, अपने सामने अनायास आ पड़े रत्नों को नहीं बटोरते। उर्दू के कवि ने दुःखी होकर एक दिन कहा था :

"'य' इबरत की जा है, तमाशा नहीं है!"

अरे भाई, यह दुनिया, यह जिन्दगी, इबरत की, सीखने की जगह है, कोई तमाशा नहीं है कि बस देख लिया, खेल लिया, पर इबरत के लिए, सीखने के लिए तो साधना की, श्रम की आवश्यकता है।

आप भी चाहें, तो एक नयी इबरत, एक नयी शिक्षा ले सकते हैं। और अपने को भला आदमी, सत्पुरुष और श्रेष्ठ नागरिक बना सकते हैं। सुविधा के लिए कुछ प्रश्न ये हैं। अपने से पूछिए और उत्तर दीजिए, तुरन्त परिणाम आपके सामने आ जायेगा।

१. आपके नौकरों के वस्त्र, निवास और भोजन की व्यवस्था कैसी है ?

२. क्या उनके गन्दे और फटे वस्त्रों को देखकर आप विह्वल हो उठते हैं और उनके लिए अपेक्षाकृत अच्छे वस्त्रों की व्यवस्था किये बिना आपके मन को चैन नहीं पड़ती ?

३. जब वे काम से निबटकर दोपहर को सोते हैं, तो उन्हें देखकर आपको सन्तोष मिलता है या झुंझलाहट आती है ?

४. क्या आप ध्यान रखते हैं कि जो कुछ आप खायें वह उन्हें भी अवश्य मिले ?

५. क्या आप उनमें पढ़ने-लिखने की प्रवृत्ति जगाने का प्रयत्न करते हैं ? संक्षेप में क्या आपको इस बात की चिन्ता है कि वे आज से कल श्रेष्ठ हों ?

६. क्या रेल में बैठने पर आपको इस बात से प्रसन्नता होती है कि दूसरे यात्री भी उस डिब्बे में चढ़ें ?

७. क्या स्त्रियों और बूढ़ों को खड़ा देखकर आप अपना स्थान उन्हें देकर कभी स्वयं खड़े रहे हैं ?

८. जब कोई संकटग्रस्त सहायता के लिए आपके पास आता है, तो आप अपने बुरे दिनों को याद कर उसका हाथ बँटाते हैं या झंझटों से बचने के लिए उसे टाल देते हैं ?

९. जब आप अपने बच्चों के साथ बैठे कोई बढ़िया चीज खाते हैं,

तो पड़ोसियों के बच्चे यदि उस समय वहाँ आ जायें, तो आपके मन पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

१०. आप अपने साथ अपने मालिकों, अफ़सरों या बुजुर्गों का जो व्यवहार चाहते हैं, क्या उसमें और आपका आपके नौकरों, मातहतों और छोटों से जो व्यवहार है, उसमें समानता है ?

११. जो बातें आप पूरी तरह नहीं जानते, क्या आप उनपर भी राय देते हैं और जिन मामलों को आप पूरी तरह नहीं समझते, उनपर भी बहस करते हैं ?

१२. आप दूसरों से, समाज से, शासन से अपने लिए बहुत कुछ चाहते हैं, पर क्या कभी आपने सोचा है कि दूसरे लोग, समाज और शासन भी आपसे कुछ चाहते हैं ?

१३. आप उन सुखों पर अधिक विचार करते हैं, जो आपको प्राप्त हैं या उनपर जो आपको प्राप्त नहीं हैं ?

१४. क्या आपके जीवन में एकान्त के लिए स्थान है ?

१५. यदि आपके दो मित्रों में मतभेद हो, तो आप एक का पक्ष लेते हैं या दोनों को मिलाने का प्रयत्न करते हैं ?

१६. आप सजावट-शृंगार की चीजों पर कितना खर्च करते हैं और स्वास्थ्य की चीजों पर कितना ?

१७. आपमें कुछ साल पहले जो बुरी आदतें थीं, वे घटी हैं, बढ़ी हैं या उतनी ही हैं ?

१८. आप अपने घरवालों, पड़ोसियों और मित्रों के गुणों पर ध्यान देते हैं या दोषों पर ?

१९. क्या आपको अपने में अधिक दोष और दूसरों में अधिक गुण दिखाई देते हैं ?

२०. आप दोषों से घृणा करते हैं या दोषी से ?

२१. आप ऐसे कितने काम करते हैं, जिनका आपके निजी या पारिवारिक स्वार्थों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं ?

ये इक्कीस प्रश्न हैं। यदि आप इनपर चिन्तन करें, तो इक्कीस मिनट में इनका उत्तर पा सकते हैं पर बार-बार ये आपके सामने आने लगें, तो इसे आप अपनी विशेष मानसिक प्रगति का ही मान-दण्ड मान लें।

□

जब वे मुशायरे के कन्वीनर थे।

हमारा देश कभी राजाओं का देश था और उनके मुकुटों में जगमगाती मणियों के मापदण्ड से हमारे देश के वैभव और गौरव की नाप हुआ करती थी।

इन राजतन्त्रों का फल देश को गुलामी के रूप में मिला और लगभग एक शताब्दी के संघर्ष के फलस्वरूप हमारे देश में उस महान् प्रजातन्त्र की स्थापना हुई, जिसमें कोई राजा राजा नहीं रहा और जनता ही राजा हो गयी।

यह स्थिति ऐतिहासिक है और इसमें सन्देह की गुंजाइश नहीं, पर यह कितने आश्चर्य की बात है कि आज भी हमारे देश में इतने राजा हैं कि हम जब चाहें, उन्हें किसी भी नगर में, क़स्बे में और यहाँ तक कि छोटे-से गाँव में भी पा सकते हैं।

"आजकल हमारे देश के हर नगर, क़स्बे और यहाँ तक कि गाँव में भी राजा पाये जा सकते हैं, यह कह क्या रहे हैं आप ? अरे भाई, राजा तो राजा अब तो ताल्लुक़ेदार और ज़मींदारों का भी पता मिलना मुश्किल हो रहा है इस देश में, यह सब आप कहीं नींद में तो नहीं बड़बड़ा रहे हैं ?"

जी हाँ, ठीक है। 'चोर को चोर, सती को सती और साधु-जती को जती पहचाने' जैसे आप खुद निर्दल हैं, वैसे ही दूसरों को समझते हैं। गरमियों की उस रात में मकान की ऊँची छत पर सोते-सोते उठे और जाने किधर को चल दिये। आँखें जनाब की तब खुलीं, जब छत पर से गली में अपने ही गिर पड़ने का धमाका खुद आपके कानों ने सुना ! घर

के लोग उठाकर लाये, डॉक्टर दौड़े, हफ़्तों अस्पताल में झूला झूलकर उठे भी, तो अब इस तरह ठुमके के साथ चलते हैं, जैसे पहाड़ी लोग बिना बाजों के नाच में ताल दिया करते हैं।

आप शायद दूसरों को भी ऐसा ही समझते हैं। अरे भाई मेरे, यह ऐतिहासिक सत्य है कि अब इस देश में कोई राजा नहीं रहा और यह एक व्यावहारिक तथ्य है कि इस देश की गली-गली में राजा बसे हुए हैं। आपने वह पुराने जमाने की कहानी तो सुनी ही होगी ?

"पुराने जमाने की कौन-सी कहानी ? हजार कहानियाँ हैं आखिर पुराने जमाने की तो !"

लीजिए, मैं सुनाता हूँ आपको वह कहानी : एक बुढ़िया थी। उसका एक बेटा था। वह बेटा भौंदू था। काम-धाम न करने की वजह से गाँव में सब उसे भौंदू ही कहा करते थे। उसकी माँ का नाम भी भौंदू की माँ पड़ गया था। एक दिन किसी बात पर गाँव के लोगों ने उसका बहुत मजाक उड़ाया। भौंदू ने अपनी माँ सेकहा : "मैं परदेश जाऊँगा माँ।" माँ ने कहा, "परदेश जाकर तू क्या करेगा मेरे बेटे ?" भौंदू बोला : "माँ मैं रोजगार करूँगा, धन कमाऊँगा।" हँसकर माँ बोली : "तू क्या रोजगार करेगा मेरे लाल ?" भौंदू ने कहा : "जो क़िस्मत में होगा।"

भौंदू दूसरे दिन परदेश को चल पड़ा। चलते समय भी गाँववालों ने उसकी हँसी उड़ायी। किसी ने कहा : "भौंदू राजा बनेगा।" किसी ने कहा : "महल बनायेगा भौंदू।"

भौंदू ने किसी को जवाब नहीं दिया और चल पड़ा। चलम-चल, चलम-चल वह एक बड़े नगर में पहुँचा। यह राजा का नगर था। उसमें आज बड़ी चहल-पहल हो रही थी। भौंदू ने एक आदमी से पूछा : "भाई, आज क्या बात है ?"

उसने कहा : "इस नगर का राजा मर गया है। आज दूसरा राजा बनेगा। दोपहर को एक कबूतर राजमहल से छोड़ा जायेगा। वह उड़ता-उड़ता जिसके सिर पर बैठ जायेगा; उससे राजा की बेटी ब्याह कर लेगी

और वही राजा बनेगा।"

भौंदू को कहीं कुछ काम तो था नहीं। वह भी एक चौराहे पर खड़ा होकर यह तमाशा देखने लगा। ठीक वक़्त पर प्रथा के अनुसार राजमहल से वह कबूतर छोड़ा गया। सब उसे देखने लगे। कबूतर उड़ता रहा और अचानक जब नीचे उतरा, तो उस भौंदू के ही सिर पर बैठ गया।

बस फिर क्या था, वज़ीरों ने उसे हाथों-हाथ उठा लिया और बाजे-गाजे के साथ महल में ले गये। राजा की बेटी ने उसके गले में माला डाली और पण्डितों ने वेद-मन्त्र पढ़कर उसे गद्दी पर बैठाया। भौंदू की सूरत ही नहीं बदली, अक़्ल भी पैनी हो गयी। बड़ी चतुरता से वह राज-काज करने लगा। एक दिन वह अपनी रानी को लेकर अपने गाँव को चला। फ़ौज-फ़र्रा, वज़ीर-उमरा, नौकर-चाकर, बाजे-गाजे सब साथ थे। गाँव में पहले ही अफ़सर पहुँच गये थे और सारा गाँव सजा हुआ था।

जब राजा हाथी से उतरा, तो गाँव के लोगों ने कानाफूसी करी: "अरे भाई, ये तो हमारा भौंदू है।" उसकी माँ ने कहा: "जैसी भगवान् ने हमारी क़िस्मत बदली, ऐसी सबकी बदले।"

तो भाई साहब, जिस तरह कबूतर के सिर पर बैठने से भौंदू राजा हो गया था, वैसे ही ये राजा हैं, जो हमारे महान् देश की गली-गली में फैले हुए हैं। बस इनमें और भौंदू में एक ही फ़र्क़ है कि भौंदू तो हो गया था क़िस्मत से सारी उमर का राजा और ये बेचारे अपने पुरुषार्थ से बस चार घड़ी के ही राजा हैं।

"तो भैया, ऐसे किसी राजा से हमारी भी मुलाक़ात कराओ। ज़रा हम भी तो देखें कि इन राजाओं में क्या अदाएँ हैं?"

वाह, भाई वाह, यह आपने भी एक ही कही। अरे भाई, आपसे इनकी मुलाक़ात कराने के लिए ही तो ये इतनी खरपंचकें इकट्ठी कर रहा हूँ।

हमारे ही नगर के एक सज्जन हैं बाबू नानकराम। बाप-दादा शहर में चार मकान बना गये थे, आराम से बैठे उनका किराया खाते हैं।

किरायेदार भी सब नौकरीपेशा हैं। बस, दूसरी तारीख को गये, नोट गिन लाये, फिर तीस दिन की छुट्टी, पान चाबिए और बातें छौंकिए।

उनकी जिन्दगी का एक दृश्य मैंने देखा है और जब भी वे राह चलते कहीं मिल जाते हैं, तो और कुछ याद आये न आये, वह दृश्य जरूर आँखों में घूम जाता है।

दूसरा युद्ध चल रहा था और ब्रिटिश सरकार हार पर हार खा रही थी। हमारे जिले के अँगरेज कलक्टर ने जनता का ध्यान बँटाने के लिए एक मुशायरा कराया। वह चाहता था कि जनता को यह मालूम न पड़े कि इसमें सरकार का हाथ है, इसलिए उसने कमेटी में रख दिये कुछ शौक़ीन रईस और संयोजक बना दिया बाबू नानकराम को। यह खान-बहादुर नजीरखाँ की सिफ़ारिश का नतीजा था, क्योंकि नानक बाबू हमेशा ही उनके अँगूठा-छाप रहे हैं।

उसी दिन बाबू नानकराम मेरे पास आये। देखते ही मुझे लगा कि आज कोई खास बात है। बात यह हुई कि रोज उनका हुलिया एक फ़टीचर का तामझाम रहता है। पैरों में ऐसा सैण्डिल, जिसके तस्मे नदारद या फिर मुड़कर पंजों में दबे हुए, जो हर क़दम पर सैण्डिल की सरपट ध्वनि के साथ मँजीरे की टुनक-सा ताल देते चलें। पैरों में एक पाजामा, जो साइकिल में उलझने के कारण पाँयचों पर फटा हुआ और जिसमें कभी तो आलपीन से जोड़ लगाया हुआ, कभी गाँठ बाँधकर और कभी यों ही लपर-सप्प; रास्ते की मिट्टी से हर हालत में कृष्णमूर्ति। गले में एक क़मीज, जिसमें पूरे बटन एक ही तरह के कभी किसी ने नहीं देखे, इस बारे में मैं क़सम खा सकता हूँ। उनके सिर पर चाहे उनके ही पड़बाबा की खरीदी फ़ैल्ट कैप रहे या धोबी के घर से भूल में किसी दूसरे की आयी गान्धी कैप, उसके चारों ओर तेल की चिकनाई का काला घेरा आवश्यक है। बात यह है कि सरसों के तेल की उपयोगिता में बाबू नानकराम का अखण्ड विश्वास है।

इसलिए मैं कहता हूँ कि उस दिन बाबू नानकराम मेरे पास आये, तो

मुझे लगा कि आज जरूर कोई खास बात है। पैरों में उन ऐतिहासिक यानी अजायबघरी सैण्डिलों की जगह नया टेनिस शू, ऊपर सर्ज की धारीदार पतलून, जिसकी क्रीज़ लैश-लकबैक, ऊपर उसी सर्ज का कोट, जिस पर ताज़ी अस्त्री बिना बोले ही बोल रही, जेब में रूमाल उसी रंग का, उसी रंग की टाई और सिर पर क़रीने से काढ़े गये बाल!

कहिए, क्या बात है बाबू नानकराम, आज तो यार, पूरे छैला हो रहे हो। आखिर बात क्या है? मैंने उन्हें देखते ही पूछा, तो बोले : "कलक्टर साहब ने बुलाया था, उनके बँगले से आ रहा हूँ।"

क्यों क्या बात है, किसी चोरी-डकैती की तफ़तीश में तुम्हें टटोला जा रहा है क्या? आजकल डी. आई. आर. (डिफ़ेन्स आफ़ इण्डिया रूल्स) का ज़ोर है, जिसे देखा बांध दिया! मैंने उनसे सहानुभूति प्रकट की, तो गर्व से बोले : "नहीं भाई साहब, किसमें किसकी हिम्मत है, जो हमसे आँख मिलाये। सब जानते हैं कि कलक्टर साहब से खास ताल्लुक़ात हैं। आज सुबह ही उनका आदमी आया था, शान से गये और मुलाक़ात की। एक मुशायरा हो रहा है। कहने लगे : 'वेल नानकराम, हमने तुम्हें उसका कन्वीनर बनाया है। हमारे पास और बहुत-सा नाम था, पर खानबहादुर ने भी तुम्हारा तारीफ़ किया और हमारा भी यही राय था। बस तुम कमेटी के मेम्बरों से मिलकर चन्दा करा लो और ऐसा मुशायरा करो कि पहले कभी न हुआ हो।' भाई साहब, यह आपका आशीर्वाद है कि बराबर साहब इसी तरह मेरी तारीफ़ें करते रहें।"

बाबू नानकराम उठकर चल पड़े और फिर लौटकर आये। कुछ याद करते-से बोले : "हाँ भाई साहब, इस मुशायरे की खबर ज़रा अखबार में निकलवा देना और हाँ, उसमें यह भी निकलवा दीजिए कि आपका खादिम उसका कन्वीनर बनाया गया है।"

इतना कहकर दीनता की सीमा तक पहुँची नम्रता से अभिभूत होकर वे हँसते-से बोले : "भाई साहब, कोई बात हो और दुनिया न जाने, तो उसका होना ही क्या, जंगल में मोर नाचा, न नाचा!"

मैंने कहा : वाह, सारी उम्र में तो एक बार आप संयोजक हुए हैं और उसकी भी खबर अखबारों में न निकले, यह कैसे हो सकता है ?

बहुत खुश हुए और चले गये। शाम को फिर आये, उसी ठाठ में थे। बोले : "सुबह से अब तक घर नहीं गया। कमेटी के सब मेम्बरों से मिलकर आया हूँ। भाई साहब, मेम्बर बनने को तो हरेक का दिल उछलता है, पर काम करने को है बाबू नानकराम। और तो और, कलक्टर साहब भी कह रहे थे कि बाबू नानकराम सब ठीक-ठाक कर लेगा। ठीक है, मैं कन्वीनर हूँ, तो सब काम करूँगा ही, आखिर अपनी नाक तो नहीं कटवा सकता!"

कुछ ठहरकर धीरे से बाबू नानकराम बोले : "भाई साहब, एक नोटिस तो लिख दीजिए कि इस तरह एक शानदार मुशायरा होनेवाला है, सब लोग तशरीफ़ लायें।"

मैंने कहा : अभी तो तारीख दूर है, तीन दिन पहले छपाइएगा नोटिस। सुनकर बोले : "अजी, तीन दिन पहले दूसरा छप जायेगा। एक तो आप आज ही लिख दें।"

मैंने पूछा : छपाई का खर्चा तो पहले कमेटी से पास करा लो, तभी तो छपाओगे नोटिस ?

सुनकर बोले : "अजी, कमेटी के सिर में मारो झाड़ू! मैं इसलिए तो कन्वीनर नहीं बना कि हरेक बात उनसे पूछकर करूँ और हरेक बात उनसे ही पूछनी पड़े, तो मैं कन्वीनर ही काहे का; मैं जो चाहूँगा, सो करूँगा।"

दूसरे दिन नोटिस छप गया, पर बाबू नानकराम नाराज थे। बात यह हुई कि नोटिस छपा था खानबहादुर की देख-रेख में, इसलिए कमेटी के प्रेसीडेण्ट की हैसियत से उनका नाम तो छपा शान से मोटे-मोटे अक्षरों में, पर बाबू नानकराम एक कोने में चिपका दिये गये — इस तरह कि जैसे, मकड़ी ने कोई मक्खी दबोच ली हो।

फिर भी वह नोटिस बाबू नानकराम घर-घर देते फिरे। कुछ भी हो,

उसपर उनका नाम तो था ही।

खानबहादुर इस अखाड़े के पुराने खिलाड़ी थे, इसलिए कोई भी संयोजक हो, वह उनका चपरासी हो रहेगा, यह वे जानते थे। उन्होंने सब शायरों को खत लिख दिये और सबने आना भी मंजूर कर लिया, पर बाबू नानकराम भी चूकनेवाले न थे। खत डालने डाकघर तो वे ही गये थे, सबके पते उतार लाये और उन्हें बहाने-बेबहाने खत लिखते रहे। किसी से आने की गाड़ी पूछी, तो किसी से कुछ और; सब तक अपना संयोजक पद और नाम उन्होंने पहुँचा ही दिया।

"हिन्दी में एक पोस्टर छपा दीजिए, जिसमें मेरा नाम और संयोजक पद छपा हुआ हो।" बाबू नानकराम ने मुशायरे से दो दिन पहले आकर कहा, तो मैंने आश्चर्य से पूछा: मुशायरे का पोस्टर हिन्दी में क्यों छपा रहे हो भाई? बोले: "खानबहादुर की अपनी दुनिया है, उसमें उनके पोस्टर काम करेंगे, पर मेरी दुनिया तो हिन्दीवालों की है, उसमें मेरे पोस्टर काम करेंगे। आप छाप दीजिए और भाई साहब, नीचे मेरा नाम और ओहदा जरा मोटे हरूफ़ों में लिख दीजिएगा।"

मैंने कहा: कमेटी इसका खर्चा न देगी, तो उभरकर बोले, "आपके चरणों की कृपा से मैं भी भूखा-नंगा नहीं हूँ।" खैर पोस्टर छपा और बाबू नानकराम ने रात-भर सड़कों की सर्वे करके खुद वे पोस्टर चिपकवाये।

मुशायरे के दिन वे हरेक गाड़ी पर खुद गये और छाती पर से पल-भर को भी उन्होंने संयोजक का बिल्ला नहीं उतारा। मंच पर उन्होंने अपना प्रभाव प्रदर्शित करने में कोई कमी नहीं रखी; हालाँकि वहाँ खानबहादुर ही सब कुछ थे, पर माइक से मुँह लगाने का कोई मौका नानकराम ने नहीं छोड़ा।

दूसरे दिन जाने क्या-क्या बघारते मुझे मिले। मैंने पूछा: आपने भी कोई नज्म पढ़ी या नहीं, तो सम्पूर्ण गौरव अपने में समाये बोले: "वहाँ जो दूसरे लोग पढ़ रहे थे, वह मैं ही तो पढ़ रहा था। भाई साहब, नज्म पढ़ना आसान है, मुशायरे का इन्तजाम करना मुश्किल है।"

इस बात को बीते वर्षों हो गये, पर आज भी वह हैण्डबिल, पोस्टर और निमन्त्रण पत्र उसकी फ़ाइल में लगा है और अकसर वे अपने मिलने-वालों से उसका ज़िक्र किया करते हैं, उन्हें दिखाया करते हैं। जब-जब मेरे सामने वे अपने मुशायरे का घुमा-फिराकर ज़िक्र करते हैं, मैं सोचा करता हूँ कि कौन आदमी असल में कितना ऊँचा और कितना नीचा है, इसकी एक कसौटी यह भी है कि जो अपनी जितनी छोटी बात को, जितना अधिक महत्व देता है, वह उतना ही छोटा है और जो जितनी बड़ी बात को, जितना कम महत्त्व देता है, वह उतना ही ऊँचा है।

बात यह है कि जो कुछ आपने किया है, उसकी क़ीमत दुनिया जानती है। अब आप यदि अपनी इकन्नी को गिन्नी बतायें, तो लोगों की निगाह में गिन्नीवाले तो आप हो ही नहीं सकते, इकन्नीवाले भी न रहेंगे।

चार घड़ी के राजा, जलसे के संयोजक का संक्षेप में सन्देश यह है कि डींग न मारो, क्योंकि उससे किसी पर नया प्रभाव तो पड़ता नहीं, पहले से पड़ा हुआ भी उखड़ जाता है; साथ ही अपने व्यवहार में अहंकार और प्रदर्शन को मत उभरने दो, नहीं तो चार दिन तुम्हारे व्यक्तित्व को इस तरह घायल करेंगे कि तुम्हारे व्यक्तित्व का चेहरा चेचक के दाग़ों से भर उठेगा।

☐

जमालो दूर खड़ी

संसार ने उस दिन सभ्यता की ओर एक बड़ा पग उठाया, जिस दिन उसे आग जलाने की विद्या का पता लगा। आग न जलती, तो चूल्हा न होता, चूल्हा न होता तो भाप न बनती, भाप न होती तो इंजन न बनता, इंजन न बनता तो मशीन न बन पाती। मशीनें न बन पातीं, तो बिजली का आविष्कार न होता और बिजली का आविष्कार न होता, तो संसार हमें आज जैसा दिखाई देता है, वैसा दिखाई न देता।

इस सत्य की छाया में हम कहना चाहें, तो कह सकते हैं कि आग हमारी सभ्यता की माँ है और हमारे देश में ही नहीं, संसार-भर में माँ पवित्रता का सर्वोत्तम प्रतीक है।

ठीक है, यह आग जलाने की बात है और मुझे कहनी है आग लगाने की बात, पर यह भी तो ठीक है कि बीज हो, तो पेड़ उगें। आग न जलती, तो वह लगती कैसे ? कह तो रहा हूँ आपसे कि आग जली, चूल्हे बने, चूल्हे बने कि परिवार आये और परिवार आये कि समाज बना। बस समाज बना कि कलाओं ने जन्म लिया और भाई साहब, इन्हीं कलाओं में एक है आग लगाना।

अरे, यह क्या ? आप यह नाक-भौं क्यों सिकोड़ रहे हैं। अच्छा, मैंने जो आग लगाने को कलाओं में सम्मिलित कर लिया, तो आप गरमा गये, पर यह है क्षेत्र विवेचना का और आरम्भ में ही समझ लीजिए कि विवेचना इस गरमी से पिघल नहीं सकती। मैं फिर से कहता हूँ, हाँ-हाँ, निश्चय ही आपको चिढ़ाने के लिए नहीं, सत्य की घोषणा को बल देने के लिए कि आग लगाना भी एक कला है और अत्यन्त पवित्र कला है।

यह लीजिए, आप फिर भड़कने को हो रहे हैं कि मैं आग लगाने को कला ही नहीं, बहुत पवित्र कला कह रहा हूँ। मालूम होता है आप यों न मानेंगे और मुझे आपको प्राचीन साहित्य में उतारना पड़ेगा।

पहली और सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि इस कला का आविष्कार किसी मामूली मनुष्य ने नहीं, एक ऋषि ने किया है।

"ऋषि ने ?"

जी हाँ, ऋषि ने और उनका नाम है नारद। महर्षि नारद ने इस कला का आविष्कार कर इसे राम भरोसे छोड़ ही नहीं दिया, बरसों इसका पालन-पोषण भी स्वयं ही किया। उन्होंने इस कला के सम्बन्ध में जो परीक्षण किये, उनके पात्र इस धरती के मरते-जीते मनुष्यों को ही नहीं, अजर-अमर देवताओं तक को बनाया और कभी-कभी तो उन्होंने देवताओं और मनुष्यों दोनों को एक ही चक्के पर रखकर घुमा दिया।

महाराजा भीम की कन्या दमयन्ती का स्वयंवर होने को था। स्वयंवर तो नाम का ही था; क्योंकि वह नल को अपना पति बनाने का बहुत पहले निश्चय कर चुकी थी। दमयन्ती रूप का लच्छा, गुणों का समुद्र और ज्ञान का स्तूप। अब महर्षि नारद बेचैन कि ऐसी असाधारण कन्या का स्वयंवर और इतनी साधारणता के साथ ? साधारणता, सरलता, इस कला के उद्धारक के लिए असह्य। जप-तप छोड़ नारद बाबा ने अपना इकतारा उठाया और पहुँचे स्वर्गपति इन्द्र के पास।

इन्द्र पूछने लगे कुशल-मंगल, पर नारद बाबा को कुशल-मंगल से चिढ़। सोचने लगे दुनिया से दौड़े स्वर्ग में आये कि चलो यहीं कुछ चहल-पहल मिलेगी, पर यहाँ तो राख भी ठण्डी है। अब क्या करें ? जिसे समय पर सूझ न हो, वह ऋषि क्या ? सूझ गयी तुरन्त एक बात और स्वर्गपति इन्द्र पर ही लगाया ऋषि ने अपना निशाना, पर निशाना लगाते किसी ने ताड़ लिया, तो निशाना क्या, बजरबट्टू है।

हजारों कोस घुमाकर बोले : महाराज, आपके स्वर्ग में आजकल बड़ी बेरौनकी है। बात यह है कि संसार में युद्ध छिड़े, तो लोगों को

वीरगति प्राप्त हो और वे स्वर्ग में पहुँचें, पर आजकल संसार में एक ऐसी घटना घटित हो रही है कि सब क्षत्रिय राजा उसमें उलझे हुए हैं। उन्हें लड़ने की आजकल फ़ुरसत ही नहीं है।

इन्द्र के मन में उस घटना के सम्बन्ध में एक जिज्ञासा उत्पन्न हुई और नारद ने जिज्ञासा की उस आग को भड़का दिया अपनी चतुरता से। उपसंहार यह कि इन्द्र अब स्वयंवर में जाने को तैयार और नारद बाबा का काम सिद्ध। इन्द्र तीन अन्य देवताओं के साथ स्वयंवर में गये और वहाँ नल को दूत बनाने में जो गुल खिले, वह सब प्राचीन साहित्य में आज भी सुरक्षित है।

इस कला का कलाकार होना बहुत बड़ी बात है। इसमें यदि मनुष्य सफल हो, तो पूरी ऊँचाई पर पहुँचता है और असफल हो, तो बुरी तरह पिटता है। इस पिटाई का भी सबसे ऊँचा मानदण्ड (रेकॉर्ड) महर्षि नारद ही स्थापित कर गये हैं। बात यह हुई कि देवता और ऋषि दोनों नारद से तंग थे और नारद अपनी सफलताओं से इतराये, किसी को कुछ समझते ही न थे। तय हुआ कि नारद को एक पाठ पढ़ाया जाये।

एक स्वयंवर की रचना की गयी और नारद को बहलाकर उधर ले जाया गया। नारद उस कन्या को देखकर मुग्ध हो गये और दौड़े-दौड़े विष्णु के पास गये कि मेरा मुंह आप अपने वरदान से ऐसा कर दें कि मेरा मंगल हो। विष्णु मन ही मन मुसकराये और उन्होंने नारद का मुंह बन्दर का बना दिया। अब नारद बाबा अपने को संसार का सबसे सुन्दर जीव समझे हुए स्वयंवर में पहुँचे और बार-बार उस लड़की के सामने उचकने लगे। लड़की उन्हें देखती और डरकर पीछे हट जाती, पर नारद बाबा मानते कि लज्जा के कारण उसने अभी ठीक-ठीक हमें देखा नहीं है। उनका विश्वास था कि देखने के बाद तो यह असम्भव ही है कि कन्या उन्हें वरमाला न पहनाये।

उन्हें बार-बार उचकते देख किसी ने कहा कि अरे बन्दर, अपना मुँह तो देख। नारद बाबा ने जाकर कुएँ में झाँका, तो तबीयत झक हो गयी।

इस तरह महर्षि नारद इस कला का उद्धार ही नहीं कर गये, अपने जीवन-भर के संस्मरणों का इतिहास भी हमारे लिए छोड़ गये हैं। और ये नारद बाबा इस धरती पर कब खिले थे इसे कम से कम मैं नहीं जानता; हाँ, इतना जानता हूँ कि दो हजार वर्ष पहले जब मेरे वंश के पुण्य प्रवर्तक इस संसार में थे, तब भी नारद चिर अतीत के काव्य का वैभव थे। इससे दो बातें स्पष्ट हैं कि यह कला जुमा-जुमा आठ दिन की पैदा हुई कोई टुटपूँजिया चीज नही है और इसके प्रवर्तक भी कोई ऐसे-वैसे नहीं, स्वयं महामहिम महर्षि नारद हैं। इस दशा में यदि मैं इस कला को बहुत पवित्र कहूँ, तो कुछ न दफ़ा चवालीस तोड़ता हूँ, न कोई वैसा काम करता हूँ, जैसा अकसर लोग रेल के टिकिट की खिड़की पर कर दिया करते हैं।

विश्व के कई विख्यात समालोचकों का मत है कि कवि बनते नहीं, उत्पन्न होते हैं। कविता के सम्बन्ध में संसार में हजारों ग्रन्थ हैं, इसलिए उसके बारे में यह कहा जा सके या न कहा जा सके, पर इस कला के सम्बन्ध में तो कहा ही जा सकता है कि इसके कलाकार बनते नहीं, जन्म लेते हैं; क्योंकि अभी तक इसका न कोई व्याकरण ही बना, न छन्दशास्त्र, न परिभाषा शास्त्र, इसलिए इस कला में निष्णात होना पूर्व जन्म के पुण्य का फल है।

कविता जीवन की बहुत बड़ी निधि है, पर संसार में बहुत कम लोग जानते हैं कि कविता का जन्म आग लगाने की कला से ही हुआ था। एक तरह से काव्य-कला इस महान् कला की पुत्री है।

यह लीजिए, आप फिर भुनाये जा रहे हैं, जैसे मैंने कोई शेखचिल्ली की गप्प छोंक दी हो या जूता पहने वेदमन्त्र पढ़ दिया हो। अरे साहब, मैं पढ़ा-लिखा आदमी हूँ और पढ़े-लिखों से ही बात कर रहा हूँ। किसी दृढ़ आधार के बिना मैं भला कोई बात कैसे कह सकता हूँ। देखिए, आदि-कवि है वाल्मीकि और यशस्वी हुए राम-चरित्र लिखकर, पर यह भी तो सोचिए कि राम को इस लायक किसने बनाया कि कोई कवि उनका चरित्र

लिखे ? सोचिए, इस प्रश्न के उत्तर में ही मेरे सत्य का भाष्य है। न होती मन्थरा, जो इस कला की पण्डिता थी और न वह कैकेयी पर अपनी कला का प्रभाव डालती, तो न राम के सिर से रखा-रखाया मुकुट उतरता, न वे वन जाते, न रावण को मारते, न काव्य का विषय बनते। अब आया आपकी समझ में कि कैसे यह कला काव्य-कला की जननी है।

इस कला की एक विशेषता यह है कि इसकी सफलता भूगिया माई के प्रसाद की तरह है कि जिसे मिल गया, मिल गया, जिसे न मिला, नहीं ही मिला—हजार सिर पटका, लाख मिन्नतें की, नहीं मिला, नहीं मिला।

जीवन का चमत्कार देखिए कि मामूली नौकरानी मन्थरा इस कला में पारंगत हो गयी और ज्ञानी, अनुभव-वृद्ध महाराजाधिराज दशरथ इसकी बारहखड़ी न पढ़ पाये।

जी, क्या पूछ रहे हैं आप कि जब यह कला आर्ष यानी ऋषि-प्रणीत है, पवित्र है, तो इसे संसार के लोग हलकी दृष्टि से क्यों देखते हैं ? प्रश्न ठीक है और मालूम होता है अब आप इसे गहराई से समझने के लिए चिन्तन के चौराहे पर आ गये हैं। विश्वास रखिए, आप अब उसकी बारीकियों को समझ लेंगे।

संसार में भले-बुरे की बहुत चर्चा है, पर ज्ञान की बात यह है कि न कुछ भला है, न बुरा है; यह सब सापेक्ष है। कविता बहुत पवित्र वस्तु है, पर यदि कोई पाप का प्रचार करने के लिए उसका उपयोग करे, तो वह घृणित हो जायेगी। एक बात और समझने लायक है कि ज्ञानी लोग इस दुनिया को अन्धी कहते हैं, पर मेरा विचार है कि इन ज्ञानियों को सत्य के किनारे पहुँचकर भ्रम हो गया है और ये भटक गये हैं। मैंने अपने होश-हवास में बार-बार देखा है कि यह दुनिया अन्धी नहीं, कानी है। यह प्रत्येक तथ्य और तत्त्व को एक ही तरफ़ से देखती है। कानी, जी हाँ, कानी; यानी एकाक्षी ! कैसे ? आइए, समझ लीजिए।

आग लगाने की कला में आचार्या श्रीमती विदुषीरत्न मन्थरादेवी के सम्बन्ध में ही देखिए। यह महाभागा नारी इस देश में जन्म न लेती, तो न वाल्मीकि होते, न तुलसीदास, पर यह दुनिया उसके कार्य में राम की माता के आँसू और राम की पत्नी के पैरों में पड़े मामूली छालों का ही दर्शन करती है। अच्छा कहिए, यह कानेपन की बात है कि मुआँखेपन की? नयी बात है, पर भाई साहब, मान लीजिए कि दुनिया कानी है। इस कानी दुनिया ने ही इस कला को बदनाम कर दिया है।

क्या अब भी आप इस कला के सामने सिर न झुकायेंगे! ठीक है, इसका दुरुपयोग किया गया है, पर भाई साहब, दुरुपयोग करने में तो यह दुनिया ईश्वर का भी नहीं चूकी। मेरे एक मित्र हैं। वे रेल में यदि भीड़ हो, तो इस कला का उपयोग करते हैं और लोगों को बहस में उलझाकर जगह ले लेते हैं। संस्कृत के विश्व-विख्यात ग्रन्थ पंचतन्त्र में एक भंगी की कथा है। उसका एक राजमन्त्री ने जब अपमान कर दिया, तो उसने इस कला का एक अद्भुत उपयोग किया। राजा और मन्त्री की मैत्री को पल-भर में छिन्न-भिन्न कर दिया। इस कला के ऐसे चमत्कारों की अनन्त कथाओं से हमारा साहित्य भरा पड़ा है।

"यह तो हृदयों में आग लगाने की बातें हैं। आप इसे भुस में आग लगाने की कला क्यों कहते हैं?" खूब प्रश्न है आपका। सचमुच अब तो आप इस कला की गहराइयों में उतर रहे हैं। जो, बात यह है कि भुस एक मुलायम चीज है और उसके ढेर में यदि एक तरफ़ आप ज़रा-सी चिनगारी रख दें, तो क्षण-भर में वह सारे ढेर में फैल जाती है। यही बात इस कला की है। इसमें होलियाँ या मशालें नहीं जलायी जातीं, सिर्फ़ एक चिनगारी खर्च की जाती है।

क्या समझे आप! आखिर यह कला है। सभी कलाओं में कलाकार की अदृश्यता को महत्त्व दिया गया है। कविता में कवि के अतिरिक्त क्या होता है, पर यदि कवि उसमें दिखाई दे, तो कविता अपने आसन से गिरकर प्रचार बन जाती है। चित्र में चित्रकार न हो, तो क्या बचता

है ? केवल रंग और काग़ज, पर चित्रकार उसमें दिखाई कहाँ देता है। कलाकार भी ईश्वर की तरह रहे और दिखाई न दे, यही कला का चरम विकास है। भुस में आग लगाने की कला में इस चरम विकास का भी चरम विकास हुआ है, इसलिए यह कला कलाओं की महारानी है।

जन-भाषा में इस कला की प्रतीक है जमालो, जिसका चरित्र संक्षेप में इस प्रकार घर कर गया है कि भुस में आग लगा, जमालो दूर खड़ी। इस दूर खड़ी होने में, इस अदृश्यता में ही जमालो की आचार्यता है। जमालो को अपना आदर्श मानकर आप मनोरंजन ही नहीं कर सकते, समाज सुधार भी कर सकते हैं।

कैसे ? अजी वाह, यह मोटी बात भी आप नहीं समझे ? मान लीजिए, कोई बूढ़ा आदमी किसी षोडशी से विवाह करना चाहता है। अब आप उससे मिलिए और कहिए कि आप यह विवाह अवश्य करें। जीवन बिना साथी के नहीं कटता। वह आपको अपना हमदर्द समझेगा। अब विवाह से एक दिन पहले घबराये, परेशान-से आप उसके पास जाइए और कहिए कि मुझे अभी पता चला है कि उस लड़की के पिता ने लड़की को यह समझाया है कि आपको किसी दिन जहर दे दे, जिससे सारे माल पर उसका क़ब्जा हो जाये। पता नहीं इसमें कितना सत्य है, पर वह आदमी अच्छा नहीं है इसलिए ऐसा हो तो सकता है। खैर, आप अच्छी तरह जाँच-पड़ताल कर लीजिए और तब सिर पर मौर रखिए।

यक़ीन कीजिए, वह आदमी अब चौकी नहीं चढ़ सकता। यह है इस कला का चमत्कार ! भाई साहब, आखिर यह महर्षि नारद का आविष्कार है, किसी ऐरे-गैरे अनाड़ी कुम्हार की बनायी हँड़िया नहीं।

☐

आप कितने विश्वसनीय हैं ?

कहानी एक ऐसी दिलचस्प चीज है कि बालक हो या बूढ़ा; सबको भली लगती है। जीवन में ऐसी भी घड़ियाँ आती हैं, जब किसी काम को जी नहीं चाहता ! कौन जाने इस समय आप भी ऐसी ही घड़ियों से गुजर रहे हों, पर हाँ, आप यह पूछना चाहेंगे कि हम चाहे ऐसी घड़ियों से गुजर रहे हों, जब किसी काम को जी नहीं चाहता और चाहे ऐसी घड़ियों से कि जिनमें हरेक काम वार्षिक परीक्षा की तरह आवश्यक दिखाई देता है; आप हमारी यह ग़ैर-सरकारी जाँच-पड़ताल क्यों कर रहे हैं ?

विश्वास कीजिए मुझे आपके इस प्रश्न से खुशी होगी, क्योंकि मैं ऐसा तुनकमिजाज नहीं हूँ कि आपके प्रश्न से कुछ इस तरह भड़क उठूँ, जैसे लाल कपड़े से हमारी गौशाला का बिजार भड़क उठता है। प्रश्न पूछने का अर्थ होता है कि आप मेरी बात सुन तो रहे ही हैं, उसमें दिलचस्पी भी ले रहे हैं।

जी, तो मैं यह कह रहा था कि जब कोई आदमी ऐसी घड़ियों से गुजर रहा हो कि उसका किसी काम में जी न लगे और उससे पूछनी हो कोई जरूरी बात, तो उसका तरीक़ा यह है कि उसे पहले कोई कहानी सुनाओ और फिर उससे यह बात पूछो। कहा नहीं अभी मैंने आपसे कि कहानी एक ऐसी दिलचस्प चीज है कि बालक हो या बूढ़ा, सबको भली लगती है। अब क्योंकि मुझे भी आपसे एक बातचीत करनी है, इसलिए मैं आपको पहले एक कहानी सुनाता हूँ और कहानी क्या सुनाता हूँ यों कहिए कि कहानी से ही अपनी बातचीत आरम्भ करता हूँ।

एक थे ठाकुर साहब ! देहात के खाते-पीते चौधरी। घोड़ा रखने का

उन्हें शौक़ था और घोड़ा भी ऐसा कि उसके जोड़ का गाँव-गवाँड में न निकले। सचमुच उनके घोड़े की धूम थी—लोग उसके बारे में हुई-अनहुई बातें कहा करते थे। यह बात तो आँखों देखी-सी कही जाती थी कि ठाकुर साहब उसपर पानी-भरा कटोरा हाथ पर धरे बैठ जाते हैं और वह ऐसी दुलकी नापता है कि हवा हो जाता है, पर कटोरे का पानी नहीं छलकता। एक दिन ठाकुर साहब अपने इसी घोड़े पर चढ़े चले जा रहे थे कि एक लँगड़ाता, दीन-हीन साधु उन्हें रास्ते में बैठा मिला। ठाकुर साहब को देखकर उसने कहा : मुझे अगले चौराहे तक अपने घोड़े पर बिठा लीजिए। वहाँ मुझे कोई आती-जाती सवारी मिल जायेगी; नहीं तो यहीं पड़ा-पड़ा मैं रात में मर जाऊँगा। ठाकुर साहब को दया आ गयी और वे घोड़े की पीठ से नीचे उतर आये। सहारा देकर उन्होंने बूढ़े को घोड़े पर बिठाया, पर यह क्या? उन्होंने आश्चर्य से देखा कि वह मरता-जीता बूढ़ा घोड़े पर बैठते ही तगड़ा नौजवान हो गया और ठाकुर साहब को झटका दे, घोड़ा ले उड़ा—यह जा, वह जा!

उड़ते-उड़ते उसने कहा : "मैं आपका दोस्त विक्रम डाकू हूँ ठाकुर साहब! आपके घोड़े पर बहुत दिन से मेरी निगाह थी।"

ठाकुर साहब ने ज़ोर से पुकारकर कहा : "विक्रम, मैं राजपूत हूँ और राजपूत अपनी जान दे देता है, पर बात से नहीं हटता। मैं कह रहा हूँ कि घोड़ा तेरा हो चुका, पर मेरी एक बात सुनता जा!"

रास के इशारे पर घोड़ा खड़ा हो गया। ठाकुर साहब ने शान्तभाव से कहा : "बात बस इतनी ही है कि यह बात तुम किसी से कहना मत!" और ठाकुर साहब बिना विक्रम की तरफ़ देखे गाँव की ओर लौट पड़े। विक्रम अपने में खो-सा गया और तब ज़रा बढ़कर उसने कहा : क्यों ठाकुर साहब, मैं यह बात किसी से क्यों न कहूँ? इसमें आपका क्या फ़ायदा है?"

ठाकुर साहब ने कहा : "अगर यह बात कहीं फैल गयी, तो लोग फिर ग़रीबों का विश्वास नहीं करेंगे!" और ठाकुर साहब फिर अपनी

राह चल पड़े। विक्रम भी घोड़ा दौड़ाता किसी ओर को चला गया, पर दूसरे दिन प्रातःकाल ठाकुर साहब के साईस ने उनसे कहा : "जाने कौन कब हमारा घोड़ा हमारे अस्तबल में बाँध गया है !"

आप मेरी तरफ़ मुँह बाये क्या देख रहे हैं, मेरी कहानी पूरी हो गयी।

"कहानी पूरी हो गयी ?" हाँ जी, कहानी पूरी हो गयी, पर उसका मतलब अभी बाक़ी है और मतलब यह है कि यदि समाज में यह बात फैल जाये कि एक साधु, फ़क़ीर, दीन बनकर ठाकुर साहब का घोड़ा उड़ाकर ले गया, तो आज साधुता के प्रति, फ़क़ीरी के प्रति, दीनता के प्रति जो निष्कारण करुणा का भाव और विश्वास समाज में है, उसका स्थान सन्देह यानी अविश्वास ले लेगा और इस तरह साधुता, फ़क़ीरी और दीनता समाज की उन्मुक्त सेवाओं से वंचित हो जायेगी।

कहानी भी पूरी हो गयी और उसका मतलब भी, पर इस मतलब का भी एक मतलब है और वह अभी बाक़ी है। मतलब का मतलब यह है कि किसी वर्ग का, किसी श्रेणी का, किसी गिरोह का, एक आदमी भी यदि अविश्वसनीय हो, तो वह समाज में अपने सारे वर्ग, पूरी श्रेणी और गिरोह के प्रति अविश्वास का भाव पैदा कर सकता है।

आप कहते हैं कि मेरी बात अभी साफ़ नहीं हुई। मैं एक नयी कहानी सुनाकर उसे साफ़ कर दूँगा और वह कहानी भी क्या है, इसी शताब्दी के आरम्भिक दिनों की एक घटना है। एक गुलाम देश का विद्यार्थी जापान में पढ़ने गया। एक दिन किसी म्यूज़ियम से वह विद्यार्थी एक चीज़ चुरा लाया। यह बात किसी तरह खुल गयी। बस फिर क्या था। म्यूज़ियम के बाहर नोटिस लगा दिया गया कि उस गुलाम देश का कोई भी मनुष्य अब म्यूज़ियम नहीं देख सकता।

अब समझे आप, इस एक विद्यार्थी ने अपनी अविश्वसनीयता से, अपने सारे देश को अविश्वसनीय बना दिया। तभी तो मैं कहता हूँ कि किसी समाज की, संगठन की, विश्वसनीयता के लिए यह आवश्यक है कि

उसका हर सदस्य भी विश्वसनीय हो।

हमारे भीतर लाख गुण हों, पर यदि हम विश्वसनीय नहीं हैं तो वे लाख गुण राख हैं। प्रसिद्ध समालोचक कार्लाइल ने कहा है कि जिस आदमी के बारे में आप यह कह सकते हैं कि वह विश्वसनीय नहीं है, उसके विरुद्ध और कुछ मत कहिए। दूसरे शब्दों में अविश्वसनीयता से बढ़-कर चरित्र का और कोई धब्बा हो ही नहीं सकता; क्योंकि कह तो रहा हूँ इतनी देर से कि हमारी अविश्वसनीयता हमारी ही अविश्वसनीयता नहीं है, वह हमारे समाज और राष्ट्र की भी अविश्वसनीयता है।

बस इतनी बड़ी भूमिका की छाया में मैं आपसे पूछता हूँ कि आपने कभी सोचा है कि आप कितने विश्वसनीय हैं?

"अपने दोष किसे दिखाई देते हैं?" यह ठीक कह रहे हैं आप और आपकी यह बात भी मुझे जचती है कि "आखिर अपनी विश्वसनीयता को कसौटी पर रखने का नियम क्या है?" विश्वसनीयता जीवन का, हमारे चरित्र का, एक ऐसा गुण है कि हम उसे हिमालय से भारी कह सकते हैं और समुद्र से गहरा, पर वह इतना हलका भी है कि हम उसे इशारों में ही तोल लें।

महाराजा भर्तृहरि के जीवन में एक घटना घटी और उनके मन में बैठ गया कि यह दुनिया कुछ नहीं है। उन्हें ज्ञान हुआ, वैराग्य-भावना प्रबल हुई और अपना राज-पाट छोड़, वे वनों की ओर चल पड़े। वे जा रहे थे कि राह में उन्होंने देखा—एक गिन्नी पड़ी है। उन्होंने सोचा, इसे उठा लें, किसी ग़रीब को ही देंगे। हाथ बढ़ाया तो अँगुलियाँ लाल हो गयीं; क्योंकि वह गिन्नी नहीं, पान की पीक थी।

घटना साधारण है, पर इसने महाराज को अपनी विश्वसनीयता कसौटी पर रखने का एक गम्भीर अवसर दिया। गिन्नी राह में पड़ी है या तिजोरी में रखी है, जो आदमी अपना राज-पाट छोड़े जा रहा है, उसे उधर ध्यान देने से मतलब?

हज़रत मुहम्मद के संस्मरण संग्रह किये जा रहे थे। सुना गया कि

अमुक आदमी के पास एक अच्छा संस्मरण है। संग्रहकर्ता लोग उसके पास गये, तो उन्होंने देखा कि वह मनुष्य अपने कुरते के पल्ले में खाली हाथ छिपाये, दूर खड़ी अपनी बकरी को बुला रहा है। संग्रहकर्ता विद्वानों ने यह देखा और उससे बिना मिले ही वे लौट आये।

"क्यों भला ?" ठीक जगह पर भी है और ठीक भी है आपका यह प्रश्न। उन्होंने स्वयं इस प्रश्न का उत्तर दिया था कि जो आदमी खाली हाथ को झूठ-मूठ बकरी के सामने भरा हाथ दिखा सकता है, वह मूल संस्मरण में भी मिलावट कर सकता है, यह फिर प्रमाद से हो या स्वार्थ से !

वही बात कि इस छोटी-सी बात पर इस मनुष्य की विश्वसनीयता कसी गयी और खोटी उतरी। इसलिए यही आवश्यक नहीं है कि आप यह सोचें कि आप कितने विश्वसनीय हैं, यह भी जरूरी है कि आप यह जानें कि आपकी विश्वसनीयता इतनी सुकुमार और नाजुक है कि जरा-सी ठेस पाकर ही टूट सकती है।

मैं मानता हूँ कि आप बहुत होशियार हैं, मुझे यह स्वीकार करने में भी कोई एतराज नहीं कि आप अपने विषय के पण्डित हैं, पर धीरे से सुनिए। *एक रहस्य की बात आपको सुना दूँ कि आप अपनी तमाम* होशियारी और पूरा पाण्डित्य खर्च करके भी नक़ली विश्वसनीयता धारण नहीं कर सकते।

"क्यों ?" आपकी जिज्ञासा ठीक है और मैं उसे शान्त करने में सुख अनुभव करूँगा। बात यह है कि विश्वसनीयता पुस्तकों का ज्ञान नहीं है, मुक़दमे की मिसिल नहीं है और राजनीतिक एग्रीमेण्ट नहीं है, जीवन का सत्य है और यह सत्य तब सत्य होता है, जब वह हमारे जीवन में हो, चरित्र में हो, स्वभाव में हो, कार्य में हो !

हमारे देश की एक लोकगाथा में यह सत्य बहुत शक्तिशाली रूप में प्रकट हुआ है—एक बुढ़िया अपने जेवर और दूसरे क़ीमती सामान की पोटली कन्धे पर रखे चली जा रही थी। रास्ते में उसे एक घुड़सवार मिला। बुढ़िया ने सरल भाव से कहा : "भैया, मैं थक गयी हूँ। तू मेरी

यह पोटली अपने घोड़े पर रख ले। मैं शाम को पड़ाव पर पहुँच, तुझसे ले लूँगी।"

"क्या है इसमें बुढ़िया माँ ?" घुड़सवार ने पूछा।

"इसमें मेरा जेवर और ऐसा ही दूसरा सामान है बेटा !" बुढ़िया ने सरलता से कहा।

"ना, बुढ़िया माँ, मैं तुझे पड़ाव पर कहाँ तलाश करता फिरूँगा; तेरा जोखिम का मामला है।" घुड़सवार ने कहा और वह आगे बढ़ गया। बढ़ते-बढ़ते उसने सोचा : "यह मड़नैल बुढ़िया और मैं हवा-से घोड़े पर सवार; कहाँ यह, कहाँ मैं। इसकी पोटली ले लूँ और चलता बनूँ।"

सोचकर वह लौटा : "बुढ़िया माँ, ला तेरी पोटली अपने घोड़े पर रख लूँ। नहीं तो तू कहेगी कि एक मदद माँगी थी, वह भी इस लड़के ने नहीं दी !"

पर बुढ़िया अब उसे अपनी पोटली देने को तैयार न हुई। झुंझलाकर घुड़सवार ने कहा : "क्यों, इतनी देर में क्या हो गया ? अभी तो तुम गिड़गिड़ा रही थी ?"

बुढ़िया ने कहा : "हुआ तो कुछ नहीं बेटा, पर बात यह है कि जो तेरे कान में कह गया, वही मेरे कान में भी कह गया !" और बुढ़िया ने अपनी पोटली उसे नहीं दी !

इस लोक-गाथा की साक्षी है कि विश्वसनीयता हमारे जीवन का कोई आवरण नहीं, आचरण है। हमें सुख हो या दुःख, हम बढ़ें या मिट जायें; दूसरों का, परिवारवालों का, पड़ोसियों का, देशवासियों का और संसार के समस्त नागरिकों का हमारे प्रति जो सहज विश्वास है, हम उसे खण्डित न होने देंगे; हमारा यह निर्णय ही हमारी विश्वसनीयता का प्राण है। वह कोई अभिनय नहीं है कि हम उसे अभ्यास से प्रदर्शित कर सकें। वह हमारे जीवन का दीपक है, जो कागजों और दीवारों पर चित्रित होकर नहीं; स्वयं जलकर ही रोशनी देता है।

आपके एक बड़े भाई हैं और एक भाभी। दोनों में मतभेद है, मन-मुटाव है। भाई आपसे भाभी के सम्बन्ध में कुछ कहता है और भाभी भाई के बारे में कुछ कहती है। क्या आप इन दो 'कुछ' को अलग-अलग रख सकते हैं? यदि हाँ, तो आप विश्वसनीय हैं और नहीं तो अविश्वसनीय! क्या आपको दूसरों के पत्र पढ़ने की, छिपकर बातें सुन लेने की, बेचैनी होती है? यदि हाँ, तो यह आपकी अविश्वसनीयता का पक्का प्रमाण है।

अपने वादों के सम्बन्ध में आपका क्या हाल है? क्या दावतों में, जलसों में, आप ठीक समय से पहुँचते हैं? नियत समय पर आप मित्रों को घर मिलते हैं? वादा विश्वसनीयता की सबसे बड़ी कसौटी है!

आप अपने मित्र से माँगकर एक पुस्तक लाये हैं? क्या कभी ऐसा हुआ है कि वह अपने घर नहीं लौट सकी? यदि हाँ, तो आप सौ प्रतिशत अविश्वसनीय हैं। आप एक लाख बहाने बनाये, सत्य यही है कि जब आपका एक पुस्तक के लिए भी विश्वास नहीं किया जा सकता, तो कोई राष्ट्रीय धरोहर आपको कैसे सौंपी जा सकती है?

आपने अपने किसी साथी का फ़ाउण्टेनपेन उड़ाया है? आपकी राय में यह मामूली बात है, पर सच यह है कि जो आदमी फ़ाउण्टेनपेन चुरा सकता है, वह कोहनूर को कैसे छोड़ देगा?

मैं समझता हूँ कि मेरी बात-चीत पूरी हो गयी, पर लीजिए बात पूरी करते-करते भी आपको एक कहानी और सुनाये देता हूँ।

प्रेसीडेण्ट अब्राहम लिंकन को अपने लिए एक सहायक की आवश्यकता थी। प्रेसीडेण्ट ने सब उम्मीदवारों को एक दिन अपने दफ़्तर में बुलाया और दरवाज़े के पास रास्ते में एक पुस्तक डाल दी। कोई बीस उम्मीदवार थे। भड़भड़ी के साथ दफ़्तर में वे आये और पुस्तक को कुचलते हुए प्रेसीडेण्ट की मेज़ तक पहुँचे। हरेक अपनी बात कहने को बेचैन था और कह रहा था।

इनमें एक उम्मीदवार, जो उम्र और ज्ञान दोनों में ही सबसे कम

था, सबके बाद दफ़्तर में आया। उसने उस पुस्तक को उठाकर रूमाल से साफ़ किया और प्रेसीडेण्ट की मेज़ पर रख एक तरफ़ खड़ा हो गया। जब सब अपनी-अपनी बात कह चुके, तो प्रेसीडेण्ट से पूछकर, संक्षेप में, धीरे से उसने अपनी बात कही। बात सुनकर प्रेसीडेण्ट ने हाथों-हाथ उसे अपना सहायक बना लिया।

दूसरे उम्मीदवारों ने इसपर एतराज किया कि आप एक कम-उम्र, कम-अनुभव, कम-योग्य आदमी को रख रहे हैं। प्रेसीडेण्ट ने कहा: "मैं आपकी उम्र, आपके अनुभव और आपके प्रमाणपत्रों को लेकर क्या करूं; मुझे तो एक सहायक की आवश्यकता है। इस युवक ने अपने व्यवहार से सिद्ध कर दिया है कि इसे अपने से ज्यादा मेरी चिन्ता है और मैं इसका पूरी तरह विश्वास कर सकता हूं।"

विश्वास दिलाया नहीं जाता, उत्पन्न किया जाता है। वह क़समों से उत्पन्न नहीं होता, आचरण और व्यवहार से पनपता है। विश्वसनीय होना ही विश्वास दिलाने की सबसे बड़ी तरकीब है!

□

वे घटनाएँ और यह घटना

बहुत दिन की बात है। कूर्मांचल प्रदेश की यात्रा में मैं एक अवसर-प्राप्त तहसीलदार के घर अतिथि हुआ। उनका परिवार तो ऊपर पहाड़ी गाँव में था, पर वे अकेले नीचे क़स्बे में रहते थे। मेरी नस-नस में पारिवारिक रस की भावना है, इसलिए मुझे यह अद्भुत-सा लगा, पर भोजन के समय जो कुछ हुआ, उसने मेरे लिए इस अद्भुत को करुण कर दिया।

"आइए भोजन कर लें, फिर गप-शप करेंगे!" मैं उनके साथ भोजन के कमरे में गया, तो देखा: मेरा थाल एक छोटी मेज पर रखा है और उनका नीचे ज़मीन पर। उनके दोनों तरफ़ दो छोटी थालियों में भी खाना है, पर हमारे-जैसा नहीं। मन में प्रश्न उमड़े, पर प्रतीक्षा ही मैंने ठीक समझी। अपने आसन पर बैठते ही तहसीलदार ने ज़ोर से पुकारा: पार्टनर, कमौन! मैंने देखा, झपटा-झपटा दुम हिलाता एक सुन्दर कुत्ता आकर उनके दायें हाथ बैठ गया। उन्होंने दूसरी पुकार दी: कमौन कामरेड! मैंने देखा, अपने में सिमटा-सा एक शिकारी कुत्ता आकर उनके बायें हाथ बैठ गया और ज्यों ही तहसीलदार ने खाना शुरू किया कि वे दोनों भी खाने लगे।

मेरे मन में इस सम्बन्ध में भावना की कुछ काली-गोरी, भली-बुरी रेखाएँ खिचीं, पर उनसे कोई चित्र न बन पाया। रात को गप-शप में जब हम अधिक परिचित हो गये, तो भीतर की रेखाएँ ज़रा उभर आयीं: "तहसीलदार साहब, आपके ये पार्टनर और कामरेड तो खूब हैं!" हँसी में आरम्भ हुई यह बात, कुछ पलों में ही, वेदना में डूब गयी, जब उन्होंने कहा: "भाई साहब, मेरी देह पर जितने रोम हैं, मनुष्यों के

विश्वासघातों से हुए, उतने ही घाव मेरे मन पर हैं। ये कुत्ते हैं, खाते-पीते हैं, पर कम से कम विश्वासघात तो नहीं करते!" यह सुनकर मैं इतना स्तब्ध हो गया कि कुछ घड़ियों तक उनकी ओर न देख सका।

तहसीलदार अपने कमरे में सोने गये और मैं अपने विचारों में खो गया। ओह! क्या सचमुच मानव के लिए मानव अविश्वसनीय है? यह बूढ़ा आदमी, घर से दूर यहाँ रहता है और समाज में हर तरह साधन-सम्पन्न होकर भी इतना दीन कि इन कुत्तों से ही अपनी सामाजिकता की प्यास बुझाता है! जाने कितनी घटनाएँ हैं, जिनका कड़वा विष इस मानव के मन की परिधि को घेरकर बैठ गया है। यह जिधर देखता है, विष ही विष है। तो क्या मानव में देवत्व केवल कवियों की कल्पना ही है और असल में वह शुद्ध शैतान है—सबके लिए खतरनाक और अविश्वसनीय? ओह, तब यह जो मानव में विश्वास की देव-भावना है, यह एक मृग-तृष्णा ही है: और कुछ नहीं—बस और कुछ भी नहीं!

मुझे लगा कि मैं काँटों में घिर गया हूँ। यह अनुभूति इतनी उग्र थी कि मैं अपने पलंग पर उठ बैठा। चाँदनी रात, खुली खिड़की और शान्त पहाड़। मैं वहाँ हूँ भी और नहीं भी। खिड़की पर कोहनियाँ टेके मैं बैठा हूँ, मेरे सिर पर ठण्डी चाँदनी है, घरों, सड़कों, पर्वतों पर चाँदनी है; मैं उसे देख रहा हूँ; पर क्या सचमुच मैं उसे देख रहा हूँ।

मैं तो असल में इस समय अपने भीतर देख रहा हूँ जहाँ बिखरे पड़े हैं मेरे ही जीवन के कई पन्ने; जिन पर लिखी हैं कई बीती घटनाएँ और वे कह रही हैं मुझसे कि यह देवत्व तेरे मन का भूत है; और कुछ नहीं, अरे और कुछ भी तो नहीं।

एक ग़रीब मुसलमान साथी मेरे पास आया और मन पर बोझ इतना कि कुछ भी कहने से पहले रो पड़ा। बात यह हुई कि उसके लड़के की शादी, पर उसके पास कुछ नहीं। भाई ने सब कुछ करने का भरोसा दे रखा था; किसी बात पर नाराज़ हो, वह हट गया। विवाह सिर पर

और बहू के लिए जोड़ा नहीं; बिरादरी में नाक कटने का सवाल; क्या करे बेचारा ?

मेरी हालत यह कि मैं उसे एक भी पैसा देने में असमर्थ, पर उसकी माँग इतनी उचित कि इनकार करने की मुझमें ताक़त नहीं। साथ गया और पैंतीस रुपये का कपड़ा एक मित्र दूकानदार के यहाँ से उसे ले दिया। महीने तीन बीत गये, पर रुपये न दे पाया। दूकानदार ने नालिश कर दी, अदालत ने निर्णय दिया कि चार रुपये मासिक की किश्तों में मैं रुपया दे दूँ। मैं खुश हुआ उस समय, पर वे किश्तें भी न दे पाया। उन दिनों एक सार्वजनिक संस्था की रक्षा के प्रण पर मैं खून का फाग खेल रहा था। एक दिन गया और बजाज बन्धु से अपनी स्थिति कह आया, पर दूसरे ही दिन उन्होंने मेरी दीवानी वारण्ट निकलवा दिया। अब मैं अपने ही घर में क़ैद और परिस्थितियाँ यह कि मैं हर समय हवा के घोड़े पर सवार रहूँ। कई मित्रों को पास बुलाकर प्रार्थना की कि वे मेरी ओर से पैंतीस रुपये दे दें या मुझे तीन-चार मास का समय दिला दें, पर कोई लौटकर न आया; यद्यपि सभी ने आश्वासन दिया था। इन सभी के लिए एक सार्वजनिक कार्यकर्ता साथी की सम्पूर्ण सामाजिक प्रतिष्ठा का मूल्य पैंतीस रुपये से कम था। इनमें कई ऐसे थे, जो चिड़ी-मारों से चिड़ियें छुड़ाने में इससे अधिक रुपये कई बार दे चुके थे।

इस घटना में हमारी समाज-व्यवस्था के दो अत्यन्त मर्मस्पर्शी व्यंग्य-चित्र हैं। पहला यह कि ये बजाज बन्धु मुझे जेल भेजकर मेरे खर्चे के तौर पर और पैंतीस रुपये देने को तैयार थे, पर उन पैंतीस रुपयों को छोड़ने या कुछ दिन बाद वसूल कर लेने को तैयार न थे! दूसरा यह कि जो मित्र उस दिन मेरी प्रार्थना पर पैंतीस रुपये अपनी जेब से बाहर न कर पाये, वे बाद में मेरे इशारे पर पैंतीस सौ रुपये देने को प्रस्तुत रहे; क्योंकि मैं तब उन घड़ियों को पार कर चुका था।

शाम को जेब के सब रुपये समाप्त हुए और रात में पत्नी का हार्टफ़ेल हो गया। दाह-संस्कार के लिए भी जेब में पैसा नहीं। आदमी को अपने

एक मित्र के यहाँ भेजा कि पचीस रुपये ले आये।

मेरे आदमी को मित्र ने उत्तर दिया : "मैं इस समय मजबूर हूँ। रुपयों का प्रबन्ध कहीं और से कर लें !" ये मित्र रईस, बैंकर, मजिस्ट्रेट, जमींदार और देश-भक्त और वह पत्नी, जो अब एक शव के रूप में पृथ्वी पर सो रही है, इनकी प्रतिष्ठा के लिए एक दिन कचहरी में झूठी गवाही दे आयी !

पत्नी की चिता का प्रबन्ध तो हो ही गया, पर मुझे लगा कि हम मनुष्यता की चिता का ही प्रबन्ध कर रहे हैं।

"बस एक ही रास्ता है पण्डित जी ! कि आपके जामिन उस दिन ग़ैर-हाज़िर रहें।"

एक राष्ट्रीय संस्था की सम्पत्ति को एक साहूकार ने नीलाम कराने के लिए कुड़क करा रखा था और इसी संस्था के एक वैतनिक कार्यकर्ता, इस कुड़की के जामिन (सुपुर्दगीदार) थे। नीलाम की तारीख़ आ गयी थी, पर रुपयों का अभी प्रबन्ध न था ! ये जामिन महोदय, मेरे उस समय के शिष्य थे, जब मैं अध्यापक था और आज के कर्मचारी थे; जब मैं संस्था का संचालक—किसी भी आर्थिक कारण से नहीं, सार्वजनिक सेवा की उग्र भावना का शिकार होकर ही ! उन्हें ग़ैर-हाज़िर करना एक साधारण बात थी, इसलिए जब वकील ने उनकी ग़ैर-हाज़िरी को ही एक रास्ता बताया, तो मुझे लगा कि यह रास्ता काफ़ी चौड़ा भी है और सरल भी।

मैंने काग़ज़ी तौर पर उन्हें संस्था से छुट्टी दे दी और उनके गाँव के पासवाले अस्पताल में डॉक्टर से मिलकर उन्हें बीमार लिखवा दिया। बिना वहाँ गये ही एक सप्ताह पहले से उनकी हाज़िरी बीमारों में लिखी जाती और दवा बनती। कचहरी के चपरासी से मिलकर नीलाम की सूचना पर लिखा दिया था कि जामिन छुट्टी पर है और उसका कोई पता नहीं चलता ! अब वे क़ानूनी तौर पर सुरक्षित थे और मैं निश्चिन्त था,

पर नीलाम से पहली रात में ठीक साढ़े बारह बजे वे मेरे पास आये; यह सूचना देने को कि वे कल गैर-हाजिर न होंगे और यहीं रहेंगे। यह सूचना बारह घण्टे बाद संस्था के सर्वनाश की घोषणा थी! इसका स्पष्ट अर्थ था कि वे साहूकार से मिल गये थे और कल ही संस्था के कर्मचारी से स्वामी हो जाने का स्वप्न उनकी आँखों में था! एक साथ वे मेरी गुरु-दक्षिणा और संस्था के सद्भाव का प्रतिदान देने को प्रस्तुत थे!

खेद है कि दूसरे दिन सब कुछ करके भी वे सफल न हुए, पर सुना है शैतान ने, उस दिन स्वर्ग में अपनी विजय-घोषणा करके देवताओं को दहला दिया था!

सड़कों, घरों और पहाड़ों पर चाँदनी फैली हुई है और मैं खिड़की पर कुहनियाँ टेक बाहर की ओर देख रहा हूँ, पर दीख कुछ नहीं रहा है। देखनेवाला ही कहीं और है, तो दीखेगा क्या? मैं जीवन के पुराने पन्ने पढ़ रहा हूँ। ये पन्ने इतने कड़वे हैं कि चाँदनी भी कड़वी हो गयी है। मैं सोच रहा हूँ कौन है यहाँ अपना? कोई नहीं है, तो क्या हम तहसील-दार की तरह कुत्तों को अपना साथी बनायें? अनुभूति की कड़वाहट से मेरा रोम-रोम कड़वा हो चला है और मैं अपने से पूछ रहा हूँ: आखिर इन घड़ियों में जरूरत ही क्या है कि हम जियें? जिनके साथ हम जीते हैं, जब वे भी विश्वसनीय नहीं तो फिर जीवन का सुख क्या है? तब जीवन धन कहाँ है कि हम उसे सँजोकर रखें। तब तो जीवन एक ज़हर है, जिसे हम जब भी नष्ट कर दें, तभी ठीक है।

मुझे लगा कि सामने ही पहाड़ पर खड़ा है जूलियस सीज़र। एक दिन उससे किसी ने कहा: "अमुक अशुभ दिन आ रहा है।" उसने कहा: "हिश्त!" इस एक ही शब्द में उसके आत्मविश्वास की आदमक़द मूर्ति है। फिर एक दिन उससे कहा गया: "आज वही अशुभ दिन है।" सीज़र ने सिर्फ़ उसकी ओर तिरछी आँख से देख-भर लिया, ओह, यह

तिरछी आँख !

उसी दिन वह अपनी पार्लमिण्ट की ओर चला, तो किसी ने उसके हाथ में परचा दिया। बिना पढ़े ही उसने उसे जेब में डाल लिया — इस परचे में उसके वध के लिए रचे गये षड्यन्त्र की सूचना थी ! वह पार्लमेण्ट में पहुँचा कि लोग उसपर चारों ओर से टूट पड़े, पर सीज़र के लिए यह एक खेल था। उसने किसी की तलवार छीन ली और खेलने-सा लगा। तभी उसपर किसी ने पीछे से वार किया। मुड़कर जो सीज़र ने देखा, तो उसका पुराना मित्र ब्रूटस !

एक हाय की तरह सीज़र के मुँह से निकला : "ओह, ब्रूटस, तुम भी !" तभी उसने कन्धों से ज़मीन तक लटकते शाही चोगे को दायें हाथ के झटके से अपने सिर तक लपेट दिया और धम्म से वह ज़मीन पर गिर पड़ा। ठीक है, जब मित्र ब्रूटस भी षड्यन्त्र में शामिल है, तो सीज़र क्यों लड़े ? लड़ने का अर्थ है जीवन और जीवन की अब ज़रूरत ही क्या है ?

मेरा मन हुआ कि सीज़र की तरह ही मैं भी इस खिड़की से नीचे गिर पड़ूँ ! ठीक तो है, जब वे अपने नहीं, जिनके उद्धार के लिए अपनी जवानी धूल में मिला दी और बच्चों को भूखा मारा, जब वह अपना नहीं, जिसके लिए जीवन-भर के संचित पुण्य की ढेरी में अपने हाथों आग लगा दी और जब वह अपना नहीं, जिसे पढ़ाया-लिखाया और प्यार से अपने पास रखा, तो जीकर मैं क्या करूँ ?

मन इतना थक गया कि खिड़की से पलंग पर आ गिरा मैं। अब मैं जाग रहा था, पर गहरी नींद से भी अधिक निश्चेष्ट ! सब इन्द्रियों पर शून्यता का परदा-सा पड़ गया था। अचानक एक फुरहरी-सी आयी और जीवन का एक पुराना पन्ना आँखों के सामने खुल गया; जैसे टेलिफ़ोन एक्सचेंज बत्तीस नम्बर की जगह बासठ नम्बर दे दे !

उसी राष्ट्रीय संस्था के नीलाम की तारीख थी उस दिन भी। कई साहूकार उसपर आक्रमण कर रहे थे — कभी कोई चढ़ता, तो कभी कोई। परम्परा यह थी कि नीलाम की तारीख से एक दिन पहले क़र्ज़ का एक अंश दाखिल कर अदालत से कुछ दिन की मोहलत मिल जाती, पर उस बार यह नयी बात हुई कि क़र्ज़ के उस छोटे अंश का भी प्रबन्ध न हो पाया। ओह, कितने हाथ-पैर मारे मैंने इसके लिए !

नियत तारीख़ से पहली सन्ध्या को, मैं पूरी तरह निराश हो गया कि अब रुपया नहीं जुट सकता और इसका अर्थ था कि जिस नीलाम को मैं दो सालों से टाल रहा हूँ, कल उससे भेंट करनी ही पड़ेगी। नीलाम के बाद भी मैं रुपया देकर उसे वापस ले सकता था, पर तब मेरे पैरों में यह ताक़त ही कहाँ रहेगी कि मैं शहर की सड़कों पर घूम सकूँ ?

मेरी घबराहट की दवा है प्रार्थना। उठकर मन्दिर में गया और लौटा, तो मन शान्त था। अब मेरी दशा यह थी : भगवान् की यदि यही इच्छा है कि दुनिया एक बार डोण्डी सुन ले, तो उसे तू कौन है कि रोके ? और तब मैंने अपने से कहा : मेरे भगवान् की इच्छा पूर्ण हो।

रात में पूरी नींद आयी। सुबह उठकर नहाया, प्रार्थना की और दफ़्तर में आ बैठा। सब कर्मचारी मेरी दृढ़ता पर स्तब्ध थे। नीलाम का समय हो गया — बारह बज गये। अब आ रहा होगा ताँगा, जिसमें पीछे की तरफ़ होंगे अमीन साहब और साहूकार का कारिन्दा और आगे की तरफ़ अमीन का चपरासी और साहूकार का चौकीदार। वे आकर खड़े होंगे। भीड़ जुड़ जायेगी और नीलाम की बोलियाँ आरम्भ होंगी। कितने रुपये देने हैं इस साहूकार के ? छह-सौ अस्सी रुपये। जिस संस्था ने देश में जागृति फैलाने के अपराध में विदेशी सरकार से त्रास सहा, देश के एक लखपति की दृष्टि में उसका इतना भी मूल्य नहीं कि अपने छह-सौ अस्सी रुपयों की वसूली वह एक साल के लिए रोक दे ? यह प्रश्न आज की समाज-व्यवस्था पर कितनी तेज़ रोशनी है !

एक का घण्टा बजा, पर ताँगा नहीं आया। पाँच बजे तक कभी भी

आ सकता है । मैं अपने काम में जुटा हूँ और कर्मचारी मुझे घूर रहे हैं । एक-दो ने चाहा कि यदि यह दुर्भाग्य सिर पर आ ही गया है, तो मैं यहाँ से हट जाऊँ । उनकी करुणा का तक़ाज़ा था कि मैं अपना सर्वनाश अपनी आँखों न देखूँ, पर मैं अपनी जगह था और मुझे अपनी ही जगह रहना था । कर्मचारी आज भी काम पर थे, पर काम उनसे हो न रहा था । उनकी सबसे बड़ी परेशानी मैं था । वे दो साल से एक 'धुन' के लिए अपने को झोंक देने की मेरी पागल भावुकता को देखते आ रहे थे । उन्हें आज का नीलाम मेरी आत्महत्या का प्राक्कथन दीख रहा था ।

चार बज गये । मैंने चपरासी को पैसे दिये कि आठ-दस पान ले आये और पत्नी से कहलाया कि चाय का पानी रख दे । अब ताँगा आने में देर ही कितनी थी ! पान आ गये, चाय तैयार हो गयी और पाँच बज गये, पर ताँगा नहीं आया । घड़ी शायद गलत है, पर बैंक की घड़ी में भी पाँच बज गये ।

तो फिर ? कर्मचारियों के चेहरे पर न खुशी, न रंज । वे साक्षात् एक प्रश्न-चिह्न । वे दस-बारह प्रश्न-चिह्न मेरे सामने, पर मैं स्वयं एक प्रश्न-चिह्न : "आखिर यह हुआ क्या ?" दस-बारह मिनट और निकल गये—ताँगा अब नहीं आ सकता ! मेरे रोम-रोम पर गम्भीरता छा गयी । पत्नी ने हम सबको चाय पिलायी, पान दिये । दफ़्तर की छुट्टी हुई । कल रविवार है, परसों होगा, जो होना है, पर आज यह क्या हुआ ? डायरी देखो, नीलाम की तारीख आज ही है ।

उठकर अपने वकील के घर गया, पर वे किसी बारात में चले गये थे । अमीन के यहाँ पहुँचा, तो और भी उलझ गया । उन्होंने कहा : "कचहरी से ग्यारह बजे दस्ती परवाना आ गया था कि नीलाम मुल्तवी कर दिया गया है ।" यह और भी बड़ा प्रश्न-चिह्न है कि नीलाम किसने मुल्तवी कराया और बिना रुपये जमा किये वह हो कैसे गया ?

"नीलाम मुल्तवी कैसे हो गया अमीन साहब ?" मैंने पूछा तो बोले : "अरे साहब, आपने पचास रुपये जो दाखिल किये थे !"

"मैं गारे से निकला, तो चबच्चे में धँस गया—मैंने कब किये थे पचास रुपये दाखिल ? बहस बेकार थी, घर चला आया। अब मैं बेचैन था—बेचैन यानी उत्सुक ! रात-भर अजीब-अजीब सपने दीखे और रविवार को किसी काम में जी न लगा।"

सोमवार को कचहरी पहुँचा, तो एक अजीब बात कि हरेक अहलकार हँसकर पूछता है : "कहिए, कल आपका नीलाम हो गया ?" सबके चेहरों पर वही हँसी और सबका यही सवाल ? जाला हरेक बुन रहा है, पर रास्ता कोई नहीं देता !

अन्त में यह तुरुप खुली : जब आप कल सुबह भी मोहलत लेने नहीं आये, तो हमने समझा कि आप भूल गये या फिर आप यहाँ हैं ही नहीं ! हम जानते हैं बिना स्वार्थ आप इस संस्था को बचाने में खप रहे हैं। हमने आपस में पाँच-पाँच, सात-सात रुपये जमा करके आपके वकील से मोहलत की दरख्वास्त दिला दी और चपरासी के हाथ दस्ती परवाना अमीन के घर भेज दिया।"

हमारे देश की कचहरियों के इतिहास में यह असाधारण और अपूर्व घटना है, पर मेरे लिए तो जीवन का यह सबसे बड़ा प्रश्न-चिह्न थी ! हम राजनीतिक कार्यकर्ता, जिन्हें कचहरी का कुत्ता कहकर सदैव सभाओं और पत्रों में अपमानित करते रहे हैं और हमारी राय में आठ आने से सवा रुपये तक की रिश्वत ही जिनका धर्म-ईमान है, कचहरी के उन छोटे अहलकारों में यह देवत्व कैसे जाग उठा ?

पलंग से मैं फिर खिड़की पर आ गया। घरों, रास्तों, सड़कों और पहाड़ों पर चाँदनी छिटकी हुई थी। मुझे लगा कि उसमें ठण्डक है, मिठास है, शान्ति है — कड़वाहट तो कहीं दूर-पास भी नहीं है !

तभी जैसे चाँद ने मुझसे कहा : "मनुष्य में देवता भी रहता है और दानव भी। देवता की प्राण-प्रतिष्ठा और दानव का दलन करने के लिए संघर्ष करना ही मानव-जीवन है।"

चाँद हँस रहा था। मैं भी हँस पड़ा। पलंग पर लेटते-लेटते मैंने अपने से कहा : "तहसीलदार के कुत्ते दुनिया के एक कोने के खण्ड-चित्र हैं, सम्पूर्ण संसार के पूर्ण चित्र नहीं!" और मैं ऐसा सोया कि मौत भी झेंप गयी!

□

वे ख़ुश हैं; मैं ख़ुश हूँ।

उगती पीढ़ी के उपन्यासकार हैं श्री योगेश गुप्त। वाणी और क़लम दोनों में काँटेदार। हाँ, काँटे पैने और मज़बूत कि चुभें, तो यों उधेड़ें कि लहू-लुहान हो जाये, पर मक़सद यह कि ठहरो मत, चले चलो, तो चलतों को रोकते नहीं, रुकतों को चलाते हैं ये काँटे!

उन्हीं के उपन्यास 'थकी साँसें' का विज्ञापन पढ़ा, तो गद्दी पर बैठे-बैठे ही काँटे देह में चुभ गये। कितना बड़ा काँटा है यह, कितना पैना, ख़ूनी-ख़ूँख़्वार : "हर आदमी किसी न किसी के सिर पर पैर रखे खड़ा है और जी रहा है। जीने की उसे भी कुछ ख़ुशी नहीं है, ख़ुशी है, तो इस बात की कि कोई उसके पैरों के नीचे है। कोई भी उसके पैरों के नीचे न होता, तो वह मर जाता। यही अमानुषिक आनन्द आज जीवन और जगत् का अभिशाप है।"

काँटा बड़ा पैना है, पर कलेजे में कुछ इस अदा से घुसा है कि दर्द तो गहरा, पर कराह नहीं है — एक मीठी-भीनी सिहरन है; यों कहूँ कि शब्द तो नहीं है, पर गूँज है, गीत तो नहीं है, पर आलाप है, ताल तो नहीं है, पर सम है, धूप तो नहीं है, पर धूप-छाँह है, रंगीनी नहीं है, पर एक झिलमिलाहट है। ओह रे, यह काँटा!

मीठी चुभन में एक भाव-भीनी धुन उठ रही है, उसमें तीन शब्द हैं : सत्, चित्, आनन्द! सत् है अस्तित्व, चित् है कृतित्व और आनन्द है व्यक्तित्व; यों सच्चिदानन्द यानी नर-नारायण के स्वरूप की पूरी झाँकी, तो आनन्द ही मनुष्य की मूल-वृत्ति है। भोजन से वह जीता है, वस्त्र से सजता है, पर खिलता है आनन्द से — जीवन में आनन्द न हो, तो जीवन

का विकास रुक जाय कि वह बिना गन्ध का फूल, कि वह बिना वाणी का कण्ठ, कि वह बिना फूल का वृक्ष, कि वह बिना पानी का ताल—शिव नहीं शव !

उफ़ ! तेज दर्द कि कलेजा फट जायेगा—लगता है, चुभा काँटा गहरे उतर गया है और उसने पसलियाँ काट दी हैं : "कोई भी उसके पैरों के नीचे न होता तो वह मर जाता। यही अमानुषिक आनन्द आज जीवन और जगत् का अभिशाप है।"

अमानुषिक आनन्द ! आनन्द और अमानुषिक ? अमानुषिक आनन्द क्या ? जो मानुषिक न हो ! जो मानुषिक नहीं, वह आसुरी, पाशविक, तो हम जी रहे हैं एक पाशविक आनन्द के मायाचक्र में ? पाशविक आनन्द, तो पाशविक व्यक्तित्व कि हम नर से नारायण बनते-बनते पशु हो गये ? कितनी भयानक स्वीकृति चाहता है मुझसे यह प्रश्न ?

यह किसकी चीख-चिल्लाहट है, जो कानों को फाड़े डाल रही है ? यह है मेरे बचपन की पड़ोसन मंगला चाची। गुस्सा तो सभी में होता है, पर चाची का गुस्सा तो ज्वालामुखी। उसका छोटा बेटा नन्दू—पाँच वर्ष का सुकुमार, सलोना, होनहार। एक दिन चाची ने कुछ कहा, तो नन्दू न माना। वह चीखी-चिल्लायी, पर नन्दू अड़ा सो अड़ा— आखिर बालहठ ! चाची तड़ककर उठी और धमाक से उसने नन्दू की कमर पर धौल धर दी ! कहाँ नन्दू, कहाँ चाची; वह धम्म से धरती पर औंधा गिर पड़ा।

चाची गरजी : "बोल, फिर कहेगा : ना।"

चाची दहाड़ी : "तो ले बोल, देखूँ कैसे कहता है तू नहीं।" और औंधे पड़े नन्दू की कमर पर अपने दोनों पैर पूरे रख खड़ी हो गयी। नन्दू एक बार चीखा और चुप हो गया। चाची ने उसे मसला : "कहता क्यों नहीं अब ना।" नन्दू नहीं बोला। बोलनेवाली हवा उसमें थी ही कहाँ अब ?

वहाँ उसी चाची के पास यह लाल-लाल कौन है ? यह सिन्दूर-लिप्त हनुमान् की मूर्ति है। और यह इनके पैरों में कौन है ? यह है सुरसा राक्षसी, जिसने लंका जाते समय उनका मार्ग रोकने की कोशिश की थी।

मंगला चाची अपने बेटे को पैरों तले दबाये खड़ी और हनुमान् जी सुरसा को पैरों दबाये खड़े। चाची क्रोध के आवेग में अभिभूत, तो हनुमान् जी अजेय संकल्प से सन्नद्ध; चाची क्षम्य, तो हनुमान् जी पूज्य, पर हम क्या हैं कि हमारा सिर किसी के पैरों दबा, तो किसी का सिर हमारे पैरों के नीचे ?

१९३२ की जेल यात्रा से छूटकर आया, मन गान्धी जी के हरिजन उपवास के वातावरण से ओतप्रोत। दो-चार दिन प्रयत्न करके एक हरिजन पाठशाला खोली और चमारों के मुहल्ले में चार दिन घूमकर साठ लड़के इकट्ठे किये। पाठशाला चहक उठी, जी को सुख मिला और तब एक दिन भंगियों के मुहल्ले में जा बैठा। "बाबू जी बड़े बच्चों को पढ़ने भेज दें, तो छोटे बच्चों को कौन सँभाले और छोटे बच्चों को वे न सँभालें, तो उनके माँ-बाप, अपने घरों में कमाने कैसे जायें ?" चौधरी घसीटा की यह बात सुनी, तो उस दिन पहली बार जाना कि समाज में वे भी हैं, जिनके लिए पढ़ना लाभदायक है, पर वे भी हैं जिनके लिए न पढ़ना ही लाभदायक है। फिर भी सात बालक निकले, जो पाठशाला आया करेंगे। शुभस्य शीघ्रम्, मैं उन्हें साथ ले आया और पाठशाला में उनका नाम लिखा दिया।

"आज पाठशाला में सात ही लड़के आये हैं।" अध्यापक जी ने आकर सूचना दी दूसरे दिन।

"सात या साठ ?" आश्चर्य से मैंने पूछा, तो उत्तर मिला : "साठ नहीं, सात ! चमारों का तो आज कोई बालक आया नहीं।"

दूसरे दिन भी जब यही बात रही, तो मैं पहुँचा उनके मुहल्ले में और पकड़ा चौधरी रामस्वरूप को—"चौधरी साहब, दो दिन से बच्चे पाठशाला क्यों नहीं गये ?"

"अजी, इन ससुरों से पढ़ा आ क्या, पण्डित जी।" पहले तो वे मुझे टालते रहे, पर जब मैंने पीछा न छोड़ा, तो झल्लाकर बोले : "हमें ऐसी पढ़ाई की ज़रूरत नहीं, जिसमें अपनी जात खोनी पड़े।"

"यह आप क्या कह रहे हैं चौधरी साहब ? पढ़ाई से तो जात बनती है।" मैंने कहा, तो वे भड़ककर बोले : "हमें ऐसी पढ़ाई की ज़रूरत नहीं है, जिसके लिए भंगियों में बैठना पड़े।"

ओह यह बात है ! सुना-समझा, तो खून में उबाल आ गया और सिर गरम हो उठा, पर सुधार का काम न उबाल से चलता है न गरमी से। घण्टों सिर मारकर यह फ़ैसला हुआ कि भंगियों के बालक चमार बालकों से अलग, दूसरी चटाई पर बैठें और उनके पीने के लिए पानी का घड़ा भी अलग हो ! मेरे लिए यह पकते तेल में नहाना था, पर नहाना था तो नहाना ही था।

और यह है १९३९ ईसवी !

घाड़, हमारे ज़िले का अर्ध पहाड़ी इलाक़ा। भाई बहादुर सिंह के साथ मैंने वहाँ के हरिजनों के पानी का मामला अपने हाथ में लिया। बाप रे यह पानी का मसला ! गाँव में कुआँ, पर उसपर क्षत्रियों का अधिकार और उनका ज़मींदारी रौब अपनी पूरी जौलानियों पर, चमारों में यह भी हिम्मत नहीं कि कुएँ पर चढ़ने की बात सोच सकें, इसलिए वे पीते हैं नालों-खालों का पानी और ये नाले-खाले कहीं-कहीं घरों से तीन-तीन मील दूर।

प्रार्थना से हमने अपना आन्दोलन आरम्भ किया और इस घोषणा तक हम आ गये कि "शीघ्र ही पानी-सत्याग्रह आरम्भ किया जायेगा, जिसमें बलपूर्वक चमार लोग इन कुओं से पानी भरेंगे, भले ही उनपर मार पड़े।"

राजपूतों ने इस घोषणा के जवाब में हमें लाठियाँ दिखायीं और साफ़-साफ़ कह दिया कि जो चमार कुएँ की 'मन' को छुएगा, उसका सिर फोड़ दिया जायेगा। हम सब जानते थे कि यह घोषणा बन्दर-घुड़की नहीं

है, क्योंकि उस युग में पुलिस और मजिस्ट्रेट अँगरेज़-नीति के अनुसार ज़मींदारों से पूछकर मुक़दमे-मामले किया करते थे।

इस घोषणा से चमार घबराये और उनकी घबराहट से हम दोनों भी परेशानी में पड़े, पर उसी दिन एक दैवी घटना हो गयी कि डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट श्री जॉस्टन ने शाम को अपने बँगले पर हमें बुलाया। हम समझ गये कि इसका अर्थ हमारी गिरफ़्तारी है और बँगले से हम सीधे जेल जायेंगे, इसलिए हम कुछ ऐसी मुद्रा में गये कि जैसे आग से पंजा लड़ाने जा रहे हों, पर हमने देखा जॉस्टन साहब के चेहरे पर खिचाव की एक रेखा नहीं है—वह है एकदम मीठा-मुलायम मनोरम।

बोले : "प्रभु के राज्य में यह अन्याय है कि किसी को पानी लेने से रोका जाये। मुझे खुशी है कि आप उस अन्याय का विरोध कर रहे हैं। अपने पद के कारण मैं खुलेआम आपका साथ नहीं दे सकता, पर आप मेरी बात मानें, यह अन्याय दूर हो सकता है।"

हमने उनकी बात मानना मान लिया, तो बोले : "डरो मत और धमकी का जवाब धमकियों से दो कि हम यह कर देंगे, वह कर देंगे। इसके बाद मैं उन लोगों को और आपको बुलाऊँगा। मीटिंग में मैं आपको धमकी दूँगा, पर आप दबें नहीं और खूब ज़ोर से बोलें।"

इलाक़े में घूमकर हमने कानाफूसी में लोगों को समझाया कि सत्याग्रह के लिए स्वयंसेवक बाहर से आयेंगे, तुम लोग डरो मत, सिर्फ़ साथ लगे रहो। इस तरह भय के वातावरण को दूर कर हमने गाँव-गाँव में सत्याग्रह की डोंडी पीटी और छापकर नोटिस बाँट दिया—पानी-सत्याग्रह के लिए पाँच हजार स्वयंसेवक तैयार। सारे इलाक़े में इससे सनसनी फैल गयी और तब एक दिन हमारी बुलाव हुई कलक्टर के बँगले पर!

एक तरफ़ पाँच-सात बड़े लोग—शहर के, गाँव के—दूसरी तरफ़ हम दोनों और बीच में कलक्टर साहब। उन्होंने बड़ों का प्रतिनिधित्व आरम्भ किया : "आप लोगों ने बाढ़ के इलाक़े में बहुत गड़बड़ मचायी

है। जमींदार लोगों ने जो कुएँ अपने रुपये से बनवाये, वे उनके मालिक हैं, फिर चमार लोग जबरदस्ती उनपर कैसे चढ़ना मांगता ?"

मैंने जोर से चिल्लाकर कहा : "झूठ, बिलकुल झूठ !" और तब धीरे से कहा : "इन कुओं में ईंट-चूना ज़मींदारों का लगा है और मेहनत-मजदूरी चमारों की, इसलिए कुएँ साझे के हैं—जमींदारों को कोई हक़ नहीं कि वे उन्हें पानी भरने से रोकें !"

कलक्टर साहब ने पैंतरा बदला : "यह सिर्फ़ मिल्कियत का ही सवाल नहीं है, धर्म का भी सवाल है। देहातों के राजपूत-ब्राह्मण लोग समझते हैं कि चमारों के कुएं पर चढ़ने से उनका धर्म भ्रष्ट हो जायेगा।"

भाई बहादुरसिंह बोले, "कलक्टर साहब, ये बातें तो हम पहले ही सुन चुके हैं इन लोगों से, अब तो हम आपकी बात सुनने को आये हैं।"

कलक्टर साहब बोले : "हम अमन को खतरे में नहीं पड़ने देंगे। आप लोग जबरदस्ती कुओं पर चढ़ेंगे तो हमारा सिपाही गोली चलायेगा।"

मैंने पूरी तेजी से कहा : "बस तो फिर बात खत्म हुई। ये लोग लाठी चलायेंगे, आप गोली मारेंगे और हम छातियाँ खोलेंगे और तब इस बात का फ़ैसला भी होगा कि गोलियाँ पहले खत्म होती हैं या छातियाँ।"

भाई बहादुरसिंह उछलकर खड़े हो गये और अपनी छाती को दम-दमाकर बोले, "कलक्टर साहब, पहली गोली इस छाती पर पड़ेगी।" हम दोनों नमस्कार कर चल दिये, पर तभी कलक्टर साहब ने कहा : "अच्छा, आप लोग अभी बाहर बैठेगा।"

हम बरामदे में बैठ गये। कलक्टर साहब ने उन्हें समझाया कि ये लोग तो मरने पर उतारू हैं और इनकी बात न मानी गयी तो बड़ा तूफ़ान हो जायेगा। थोड़ी देर बाद फिर हमें बुलाया गया और कलक्टर साहब ने कहा : "कुएँ जमींदार लोगों के हैं और चमारों को उनपर चढ़ने का कोई हक़ नहीं है, फिर भी ये लोग चमारों को पानी देना चाहते

हैं, इसलिए हमने फ़ैसला किया है कि कुएँ के तीन तरफ़ ऊँची क़ौम का लोग पानी भरेगा और एक तरफ़ चमार लोग भरेगा। चमार लोग तीन तरफ़ में चढ़ेगा, तो हम गोली चलायेगा; जाओ!"

हम चले आये। बाहर आते ही भाई बहादुरसिंह बोले: "पण्डित जी, आज की रामलीला खूब रही!" मैंने कहा: "हाँ, तुम्हारा अंगद का पार्ट बहुत शानदार रहा।" और हम दोनों खूब हँसे और हम क्या हँसे, वह सारा इलाक़ा ही हँस पड़ा!

दोनों घटनाओं के बीच में बरसों का अन्तर है और इन्हें हुए भी बरसों हो गये, पर मेरे सामने वे दोनों बराबर खड़ी हैं और मैं सोच रहा हूँ कि हमारी उस पाठशाला में भंगी बालकों के लिए अलग रखे उस घड़े में और चमार बन्धुओं के लिए सुरक्षित कुएँ के उस एक भाग में क्या अन्तर है?

लो, यह रामलीला के रावण से भी लम्बा कौन आदमी मेरे सामने आ खड़ा हुआ? आठ पैर, आठ हाथ, चार मुँह, राम रे राम! ग़ौर से देखता हूँ तो पाता हूँ, यह एक आदमी नहीं है, ये तो कई आदमी ऊपर-नीचे खड़े हैं—नीचे भंगी है, ऊपर चमार है, ऊपर जमींदार है, ऊपर कलक्टर है। इनमें कोई भी अपने सिर पर ध्यान नहीं दे रहा, क्योंकि सिर दूसरे के पैरों की बोझिल मसल से सुन्न हो गया है। हाँ, अपने पैरों के नीचे दबे सिर का सुख हरेक अनुभव कर रहा है—हाय रे, मनुष्य के सुख!

"चल बे उल्लू के पट्ठे!" और ठेलेवाले ने भैंसे की कमर पर एक हण्टर कसाकस फटकार दिया।

कौन है यह ठेलेवाला? दिल्ली के मुग़ल बादशाह का वंशधर है और सरकार से अब भी पाँच रुपये महीना पेन्शन पाता है।

ख़्वाजा हसन निजामी ने एक दिन इससे पूछा: "शाहज़ादे, तुमने बिगड़े वक़्त में यह ठेले का काम क्यों अपनाया?"

जवाब मिला: जिस्म में शाही ख़ानदान का खून है। खुश हों, तो

इनाम और नाराज हों, तो सजा देने की तबीयत है। इस ठेले से रोटी तो मिलती ही है, पर तबीयत पूरी हो जाती है कि खुश हुए, तो इस भैंसे को आटे का एक पेड़ा दे दिया और नाराज हुए, तो हण्टर फटकार दिया!"

क्या बात हुई यह? यही कि शाहजादे से ठेलेवाले रह गये, पर उसका दुःख नहीं। नतीजा यह कि खोयी प्रतिष्ठा पाने का कोई उद्योग भी नहीं है; क्योंकि शाहजादे साहब के सिर पर जो कीलदार बूट ठुके हुए हैं, वे उधर नहीं देखते; उनकी नज़र है अपने पैरों पर, जिनके नीचे भैंसे का सिर है!

मनुष्य का वास्तविक सुख क्या है? यही कि उसका जीवन ऊँचा हो!

मनुष्य का जीवन ऊँचा कैसे होता है? सत्कर्मों से!

जीवन की यह कैसी विडम्बना है कि हम अपने जीवन की ऊँचाई का ध्यान ही न करें, उसके लिए सत्कर्मों की साधना उपेक्षित पड़ी रहे और हमारे जीवन का सुख केवल इस बात पर निर्भर हो जाये कि दूसरे भी ऊँचे नहीं, नीचे ही हैं। दूसरे शब्दों में हमें अपनी उच्चता पर गर्व नहीं, दूसरों की नीचता पर सन्तोष हो!

पिता जी ने एक बार कहा था: "बेटा, लौकिक सम्पत्ति में हमेशा अपने से नीचे देखना चाहिए और पारलौकिक सम्पत्ति में अपने से ऊपर!"

मैंने जब इस सूत्र की व्याख्या पूछी, तो बोले: "यदि हमारे पास सौ रुपये हैं और हम देखें उस पुरुष की तरफ़, जिसके पास दो-सौ रुपये हैं, तो हम एक ओर उसकी स्थिति से ईर्ष्या करेंगे और दूसरी ओर अपनी स्थिति पर दुःखी होंगे। इसके विरुद्ध यदि हम उस दो-सौ रुपयेवाले की तरफ़ न देखकर, उसकी तरफ़ देखें, जिसके पास पचास ही रुपये हैं, तो हम एक ओर तो अपनी स्थिति पर सन्तोष करेंगे और दूसरी तरफ़ उस पचासवाले पड़ोसी को समय पर सहायता देने की सद्भावना हमारे मन में उपजेगी।

यह है लौकिक सम्पत्ति की बात, पर पारलौकिक सम्पदा में दूसरी दृष्टि की आवश्यकता है। हम यदि ईमानदारी का जीवन व्यतीत करते है, तो अपने से नीचे उस आदमी की तरफ़ न देखें, जो बेईमानी का जीवन व्यतीत करता है, पर अपने से ऊँचे उस आदमी की तरफ़ देखें, जो ईमानदारी का जीवन तो व्यतीत करता ही है, पर दानी भी है! इसका फल यह होगा कि हम अपनी उच्चता पर गर्व करने के अभिशाप से बच जायेंगे!"

पिता जी के इस सूत्र और उसकी व्याख्या में देखने की कला का पूरा व्याकरण समाया हुआ है। व्याकरण को भूलने से भाषा अशुद्ध हो जाती है। इस व्याकरण को भूलने से देखने की कला अशुद्ध हो गयी है। फलस्वरूप व्यक्ति व्यक्ति को, जाति जाति को, सम्प्रदाय सम्प्रदाय को और राष्ट्र राष्ट्र को हीन करके खड़ा है और नक्शा यही है कि हरेक के सिर पर किसी के पैर हैं, तो हरेक के पैरों तले किसी का सिर है!

यह मायाचक्र कैसे खण्डित हो?

यह अस्वाभाविक स्थिति कैसे बदले?

इसके दो उपाय हैं: उतरें या गिरा दिये जायें!

जो सबसे ऊपर है, वह स्वेच्छा से, अपने कर्म को अनुचित समझ, स्वयं नीचे उतर आये और दूसरों को भी वैसा करने में सहयोग-प्रेरणा दे। ऐसा न हो, तो फिर सबसे नीचेवाला एक बार हिम्मत बाँधकर अपना सिर इतने ज़ोर से हिलाये कि सब ऊपरवाले आँधी के आम-से धड़ाम से टपक पड़ें!

जिसके जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण युग-प्रश्न ही यह है कि ऊपरवाले स्वेच्छा से नीचे उतर, समता के स्रष्टा बनने का सुयश लेंगे या अपनी ही रची विषमता का शिकार हो, धमाका-धड़ाका देखेंगे?

□

एक कार्ड, तीन पत्र

यह आया है फटे कोने का कार्ड कि वे मर गये और अमुक तिथि को होने-वाले उनके अन्त्येष्टि-संस्कार में मैं सम्मिलित होऊँ, क्योंकि मैं भी उनका एक अपना था। यह कार्ड एक सूचना है।

कार्ड पढ़कर मन में विचारों की एक लहर-सी आ गयी। सोचा यह कार्ड एक सूचना है कि वे मर गये और सूचना है कि एक दिन मेरा भी ऐसा ही अन्त्येष्टि-संस्कार होगा और मेरे अपनों को भी ऐसे ही फटे कोने के कार्ड भेजे जायेंगे।

मैंने उस कार्ड को फाड़कर रद्दी की टोकरी में फेंक दिया। ऐसे अशुभ कार्डों के साथ व्यवहार की यही परम्परा है। सोचा : मेरे मरने के कार्डों की भी यही हालत होगी और उन्हें भी मेरे अपने इसी तरह फाड़-कर फेंक देंगे।

कई आवश्यक काम सामने थे। मैं उनमें लग गया और लगते-लगते सोचा कि मेरे मरने का कार्ड पढ़-फाड़कर दूसरे भी इसी तरह अपने-अपने कामों में लग जायेंगे।

तन-मन में बिजली का एक सन्नाटा-सा निकल गया—क्या मेरी मृत्यु इतनी नगण्य है ?

तन-मन में मलय पवन का एक झोंका-सा खेल गया—जीवन में मृत्यु का स्थान इतना नगण्य न होता, तो लाखों साल बीत गये कि मृत्यु अपने भयंकर जबड़ों में जीवन को चबा रही है, फिर भी जीवन ही जीवन चारों ओर क्यों लहराता ?

जीवन की यह कितनी बड़ी सचाई है कि विध्वंस से निर्माण महत्व-

पूर्ण है और संसार में भले ही जगह-जगह श्मशान हों, पर उसकी उल्लेखनीय और स्मरणीय चीज तो उपवन ही हैं। बंजर धरती पर हैं, रहेंगे भी, पर लहलहाते खेतों को छोड़कर उनके गीत कौन गायेगा ?

कौन है जो इस प्रश्न का उत्तर हाँ में दे ? ठीक है, कोई नहीं है, पर यह भीतर से उभरता आ रहा है एक पैना-पैना प्रश्न : तब क्या मृत्यु इतनी नगण्य है कि उसपर मनुष्य के मन में कोई भाव ही न उठे ? कौन है, जो इस प्रश्न का उत्तर हाँ में दे ?

समवेदना मनुष्य का एक सर्वोत्तम गुण है; क्योंकि इसी के गर्भ से सेवा और सहयोग का जन्म होता है। सेवा मनुष्य की उच्चता का माप-दण्ड है, तो सहयोग स्वस्थता का और ये सब मिलकर ही मनुष्य के पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। समवेदना का सर्वोत्तम प्रस्फुटन मनुष्य में किसी की मृत्यु के क्षणों में ही होता है, तो क्या हम मानें कि मृत्यु जीवन का एक महान् दुःख है और कहें कि वह नगण्य नहीं; एक अग्रगण्य तत्त्व है ?

लगता है हम उलझ रहे हैं, पर सुलझने की राह यह है कि हम यह जाने रहें कि मृत्यु के समय सारे वातावरण पर जिस दुःख का धुआँ छा जाता है, वह दुःख असल में है क्या ? वह दुःख यह है कि जीवन का एक दीप बुझ गया—एक व्यक्ति जीवन के आनन्द का उपभोग करने से वंचित हो गया; तो मुख्य है जीवन—मृत्यु तो एक दुर्घटना है और हमारी समवेदना उस दुर्घटना से पाठ लेकर जीवन को आनन्दमय एवं स्वस्थ बनाने के प्रयत्नों की शाद-भूमि है।

मेरे पुत्र अखिलेश की होनहार पुत्री अर्चना की अचानक मृत्यु हो गयी, तो मुझे बहुत-से बन्धुओं के पत्र मिले। उनमें तीन पत्र समवेदना के तीन रूप अपने में समाये हुए हैं। वयोज्ञानवृद्ध श्री स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने लिखा : "जब कोई बच्चा मर जाता है, तो उसके लिए बड़ी प्रसन्नता मनानी चाहिए; क्योंकि प्रभु बोझ हलका कर देते हैं, माता-पिता की जिम्मेदारी कम हो जाती है। आनन्द का मूल्य अनासक्ति है।"

वीरता, बलिदान और आदर्श के चारण श्री रामचन्द्र शर्मा 'महारथी' ने लिखा : "अखिलेश के दुःख की कल्पना करता हूँ, पर कृपया उसे स्मरण करा दें कि वह 'प्रभाकर' की सन्तान है और 'महारथी' का बच्चा। उसके जीवन में दुःख और निराशा के लिए स्थान कहाँ ?"

दैनिक 'नवभारत टाइम्स' के सम्पादक श्री अक्षयकुमार जैन ने लिखा : "अजीब-सी बात है कि आज सुबह जब मैं घर से दफ़्तर के लिए चला, मेरे बड़े पुत्र विजय के देहावसान की चर्चा अनायास ही पत्नी ने कर डाली और दफ़्तर से आकर पता चला कि आयुष्मान् अखिलेश की मुन्नी के साथ भी इसी प्रकार की घटना घटी।

ऐसे अवसरों पर प्रायः दार्शनिक रूप से चर्चा करने की परिपाटी है, पर मेरा तो अनुभव और धारणा है कि ऐसे अवसरों पर ही मानव के अन्तःकरण के संवेदन-शील तत्त्व प्रकट हो सकते हैं और उन्हें दबाने की कोई कोशिश नहीं होनी चाहिए। इसीलिए समवेदना के दो शब्द मैं आपको लिखने का साहस कर रहा हूँ।"

तीनों पत्र-लेखक मेरे अपने हैं और तीनों की भावना है कि मेरा दुःख हलका हो, मैं उस दुःख से बचकर जीवन का आनन्द लेने के काम में लगूँ पर तीनों की प्रक्रिया भिन्न है। यह दृष्टिकोण की भिन्नता है। स्वामी जी का दृष्टिकोण धार्मिक है कि भगवान् ने एक उत्तरदायित्व दिया था, उसे वापस ले लिया, तो काम का बोझ हलका हुआ, इसमें रोने की क्या बात है ? सृष्टि का संचालन भगवान् के हाथ है और वे जो भी करते हैं, वह शुभ ही होता है, तो मनुष्य शुभ की कल्पना क्यों करे ? दो-तीन पंक्तियों में स्वामी जी ने मृत्यु का यथार्थ दे दिया और जो इस यथार्थ को पा लेगा वह दुःखी हो ही नहीं सकता—उसके लिए दुःख की कोई बात है ही नहीं !

ठीक है मृत्यु में दुःख की कोई बात नहीं है; गीता के अनुसार जैसे हम पुराने वस्त्र बदलकर नये पहनते हैं, वैसे ही पुरानी देह छोड़कर नयी ले लेते हैं, पर इस यथार्थ का ज्ञान तो सुगम है, अनुभव कठिन—बहुत

कठिन। इस स्थिति में आत्मीय की मृत्यु को हम दुःखहीन मानें, यह हर एक के लिए सम्भव नहीं है। तब महारथी जी के दृष्टिकोण का उपयोग है। यह दृष्टिकोण एक बहादुर आदमी का दृष्टिकोण है, जो जीवन को तपोभूमि नहीं, युद्धभूमि मानता है : अरे भई, जीवन एक युद्ध है; इसमें हाथ-पैर भी टूटते हैं, सिर भी कटते हैं। चोट पर मरहम-पट्टी करना नर्सों का काम है और मुरदों को श्मशान पहुँचाना मजदूरों का, योद्धा का काम लड़ना और लड़ते रहना है। कौन गिर गया और कौन नहीं, इसपर ध्यान देने की उसे कहाँ फुरसत है? द्रोणाचार्य युद्ध के बीच बेटे की मृत्यु का लेखा-जोखा देखने लगा, तभी तो मारा गया!

बात ठीक है कि स्वयं जिसके सिर पर मौत मँडरा रही है, जिसे स्वयं जाने कब मृत्यु का ग्रास हो जाना है, वह दूसरे की मृत्यु पर मुँह लटकाये या आँसू बहाये, तो एक मजाक़ ही है। इस मजाक़ का समर्थन न तत्त्वज्ञानी कर सकता है, न योद्धा—वीर, पर एक मार्मिक प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य तत्त्वज्ञानी और योद्धा ही है कि वह अपने चारों ओर के वातावरण से निर्लिप्त होकर जिये?

इस प्रश्न का उत्तर हर समय हाँ में देना कठिन है और कठिनता के इन्हीं क्षणों में श्री अक्षयकुमार जैन के दृष्टिकोण का उपयोग है। अपने आदमी की मृत्यु होने से आज 'क' दुःखी है। कल 'ख' भी यह दुःख भोग चुका है, इसलिए वह 'क' के दुःख को समझता है और उसका मानवीय कर्तव्य है कि वह 'क' के दुःख में सम्मिलित हो, उसका दुःख अपनी समवेदना देकर घटाये-बढ़ाये और अपने व्यवहार से सिद्ध करे कि वह दुःख की इन घड़ियों में अकेला नहीं है—उसके पड़ोसी, उसके मित्र, उसके साथ हैं।

यह जीवन का मध्यम मार्ग है : तू मेरा, मैं तेरा का यह समझौता है, दुःख के बोझ से मनुष्य को टूट-गिरने से बचानेवाला यह आपसी सहयोग है। इसकी सफलता यह है कि इसमें तत्त्वज्ञानी और योद्धा के दृष्टिकोण का समन्वय कर हम आगे बढ़ें, जिससे हमारी समवेदना दुःखी के दुःख में

सहायक तो हो, पर एक नया बोझ न बन बैठे ! दूसरे शब्दों में हम स्वयं दुःख के बोझ से इतने न दब जायें कि अपने हाहाकार से दुःखी के मन को और भी घने दुःख से भर दें और उसे उद्‌बोधन का सहारा भी न दे पायें !!

इसमें एक खतरा भी है कि हमारी निःस्पृहता इतनी बौद्धिक हो जाये कि वह हमारी समवेदना की हार्दिकता ही खत्म कर दे और हमारा उद्‌बोधन एक पेशेवर प्रचारक की टाँय-टाँय रह जाये या एक अभिनय ही। श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने अपनी आत्मकथा में समवेदना के अभिनय का जो चित्र दिया है, वह शायद संसार के साहित्य में अनुपम है। उनके बुजुर्ग थे श्री अधुभाई काका। सब उन्हें सरकार कहा करते थे। बड़े प्रतापी पुरुष थे। उन्हीं की गाथा है :

"किसी के यहाँ मृत्यु होने पर समवेदना प्रकट करने के लिए यदि सरकार चले जाते, तो बड़ी कृपा समझी जाती। श्मशान से आदमी लौटते और खबर मिलती कि सरकार आ रहे हैं, तो नौकर हाजिर हो जाता; चबूतरे पर चौकी डाली जाती और सब लोग प्रतीक्षा में खड़े हो जाते। सरकार स्वच्छ धोती पहन-ओढ़कर रोते-रोते आते। उनका मुँह लाल हो जाता। आँखों से अश्रुधारा बह निकलती। वे सुन्दर शब्दों में मृत व्यक्ति की प्रशंसा करते। शंकराचार्य के वचनों द्वारा वैराग्य का बोध देते और जैसे नाटक में राजा आकर चला जाता है, वैसे ही तत्काल चले जाते।

एक बार मैं साथ गया था और साथ ही वापस आया था। अधुभाई काका की लगन देखकर मैं दंग हो गया। सामने ही उनका अपना घर था। उसमें पैर रखा कि उनका मुँह बदल गया, आँखों में आँसू सूख गये और वे तिरस्कारपूर्वक बोले : ऊँह, एक बड़ा लड़का मर गया, तो जैसे पृथ्वी रसातल चली गयी ! सुनकर मैं आश्चर्यचकित रह गया।"

जीवन में वेदना का भाव है, सुख की फुहार है, तो दुःख की कचोट भी है और यह है तो समवेदना भी है ही, पर समवेदना की कसौटी क्या है ? असली समवेदना वह है कि जिससे दुःखी का दुःख हलका हो, वह उसे कुछ देर के लिए भूले !

इसे समझने की आवश्यकता है। वेदना के घाव को भरने की शक्ति केवल समय में है—समय का प्रवाह धीरे-धीरे वेदना को हलकी और सहज बना देता है, पर समय अपना काम धीरे-धीरे करता है, तो दुःख की चोट और समय की चिकित्सा के बीच की कड़ी (एक रिलीफ़—सान्त्वना) है यह समवेदना, जो दुःखी को प्रतीक्षा का धीरज देती है।

इसके लिए जहाँ यह आवश्यक है कि हमारी समवेदना बौद्धिक या नक़ली न हो, यह भी आवश्यक है कि वह फूहड़ न हो! फूहड़ समवेदना क्या, कैसी? रहमान का बेटा गफ़्फ़ार छत से गिरकर मर गया, तो श्याम सिंह समवेदना के लिए पहुँचा। रहमान बिलखकर रो चुका था और दो दिन बाद आज बड़ी मुश्किल से उसकी पत्नी और बेटी ने उसे थोड़ी-सी चाय पिलायी थी। श्यामसिंह ने आते ही गफ़्फ़ार की चर्चा छेड़ दी और खोद-खोदकर उसके छत से गिरने, घायल होने, तड़पने और मरने की कहानी सुनी। रहमान के दुःख का बाँध फिर टूट गया और उसके घाव फिर से हरे हो आये। यह श्यामसिंह की फूहड़ समवेदना का फल था।

समवेदना का काम दुःख को दबाना है, दबे दुःख को उभारना नहीं। *हम घाव को सहलायें, उसपर मरहम लगायें, उसे झंकोरें नहीं, उधेड़ें नहीं*, पर इसका यह भी अर्थ नहीं कि वहाँ बैठे हम बार-बार पान चबाया करें और महफ़िली फुलझड़ियाँ छोड़ा करें। हमारी सीमा वहाँ तक है कि जहाँ तक हम दुःखी को अपने साथ ले सकें—हम दुःखी को समवेदना दें, पर हमारी समवेदना नक़ली न हो, फूहड़ न हो!

□□□